सिद्ध योग

संस्थापक ॐ सम्पादक ॐ संरक्षक ॐ...

योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्र मोहन जी महाराज

वर्ष—७
अंक—१

अप्रैल
१९७४

र्षिक मूल्य
१२ रुपया

इस अंक
का
२ रुपया

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन सवाँई एत्मादपुर (आगरा)

प्रकाशक

संयुक्त सम्पादक

श्री दिव्य

इस अंक में :—

पृष्ठ	लेख	लेखक
१	अहो विस्मयकारी	....
२	चित्त वृत्ति एवं उनके लक्षण	अनन्त श्री चन्द्र मोहनजी महाराज
१०	ध्यानयोग	श्री किशोरीलाल शास्त्री
१३	सिद्ध उनकी कृपा और उसका फल	आचार्य चन्द्रदास शर्मा
२२	पंचभूतात्मक सृष्टि तथा उसका स्रष्टा	श्री ओमप्रकाश पालीवाल
२८	सत्यं शिवं सुन्दरम्	श्री वनवासी
२६	सन्त के साथ कुछ क्षण	डा० जगन्नाथ पाठक
३६	श्री गुरुदेव	श्री सरजीत शर्मा
३८	योग साधन में तप का महत्त्व	ब्रह्मचारी नरेन्द्रकुमार
४४	हे परमेश्वर	—ज्ञानदेव
४५	पत्रंपुष्पं फलं तोयम्	....
४६	श्रीकृष्ण का शक्तिपात	सुश्री उमा शर्मा
५०	जीवन तत्त्व साधन	श्री गिरिजादेव वर्मा
५७	हो यह सुखी सकल संसार	श्री रामवचन द्विवेदी
५८	आत्म ज्ञान योग	श्री हीरालाल शास्त्री
६१	सूफी साधना और योग	श्री सुरेन्द्रबहादुर एम० ए०
७३	ह्रींकार तत्त्व विमर्श	श्री डा० रुद्रदेवजी त्रिपाठी
७६	साधन और श्रद्धा	....
८१	नव वर्ष प्रवेश	संयुक्त सम्पादक
३	भारत का शिक्षा शास्त्र	(टाइटिल पर) आचार्य विनोबा

सिद्ध योग

वर्ष ७
अङ्क १

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विनरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुविशदन् योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः'॥

अप्रैल
१९७४

अहो विस्मयकारि !

चला विभूतिः क्षणभंगि यौवनं
कृतान्तदन्तान्तरवर्ति जीवितम्।
तथाप्यवज्ञा परलोकसाधने
नृणामहो विस्मयकारि चेष्टितम्॥

ऐश्वर्य चंचल है, यौवन क्षणिक है, मनुष्य जीवन यम के दांतों के मध्य में है, फिर भी मनुष्य मात्र परलोक प्राप्ति के साधन में उपेक्षा करता जा रहा है, अहो मनुष्यों का यह व्यायाम कितना आश्चर्यकारी है।

हमारा विशेष लेख —

चित्त-वृत्तियाँ एवं उनके लक्षण

[श्री योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज]

— 卐 —

भगवान् पतंजलिदेव ने योगश्चित्त वृत्ति निरोधः, कह करके योग की परिभाषा बतलाई। प्रथम सूत्र में योगश्चित्त वृत्ति निरोधः, कह कर निरोध की परिभाषा लिखी। इस सूत्र मे सर्व चित्त वृत्ति निरोधः, ऐसा नहीं कहा गया। इसलिए श्री पतंजलि देव के मन्तव्य में सम्प्रज्ञात समाधि भी योग की परिभाषा के अन्तर्गत है। यदि श्रीपतंजलिदेव योगस्सर्व चित्त वृत्ति निरोधः ऐसा कहते तो वह लक्षण केवल मात्र असम्प्रज्ञात समाधि पर ही लागू होता था क्योंकि चित्त-वृत्ति प्रवाह असम्प्रज्ञात तक थोड़ा बहुत चलता ही है। जहां पर साधक को असम्प्रज्ञात का उदय होता है वहां पर चित्त वृत्तियों का गुणाधिकार भी खत्म होने लगता है। वहीं से असम्प्रज्ञात योग का प्रारम्भ होता है, और गुणाधिकार समाप्त होता है। क्योंकि इस सूत्र के अन्दर श्री पतंजलि देव महाराज ने सर्व शब्द को ग्रहण नहीं किया। इसलिए यह लक्षण संप्रज्ञात एवं असंप्रज्ञात योग की दोनों समाधियों पर लागू होता है। प्रख्या-प्रवृत्ति एवं स्थिति शील होने से चित्त त्रिगुणात्मक है। जिस समय हमारा यह चित्त प्रख्या रूप होकर रज और तम के द्वारा आक्रमित होता है उस समय वैभव विविध ऐश्वर्यों को अपना लक्ष्य बनाता है। एवं जिस समय प्रख्या रूप चित्त सत्व तम से दबाया जाता है। उस समय वही चित्त तमोगुण से घिरा हुआ होने के कारण अधर्म अज्ञान एवं अनैश्वर्यता अर्थात् दारिद्रिय को प्राप्त होता है और जिस समय यह चित्त रजो मात्रयान्विविद्ध होता है तब मोहावरण के नष्ट हो जाने पर सर्वथा प्रकाशमान-धर्म-ज्ञान-वैराग्य एवं ऐश्वर्य को प्राप्त करता है। इसके बाद रजोगुण की जो अंश मात्रा शेष थी वह भी योगी के अभ्यासबल से समाप्त हो जाती है। और चित्त स्वरूप प्रतिष्ठ हो जाता है। और इसको प्रकृति पुरुष कर विवेचनात्मक ज्ञान परिपक्व होने पर धर्म मेघ समाधि की अवस्था को प्राप्त करता है। वही योगियों का परं प्रस्थान है। वैसे चित्त शक्ति अपरिणामिनी, अप्रतिसंक्रमा, दर्शित विषया, शुद्धा एवं अनन्ता सत्वगुणात्मिका शास्त्रों में कही गई है। इस कारण से पुरुष से विपरीत होने के कारण यह जड़ कही गई है। और प्रकृति पुरुष का भिन्न-

भिन्न ज्ञान विवेक ख्याति कहलाता है । अतः उसमें भी विरक्त हुआ चित्त उस ख्याति को भी रोक देता है । यहां पर चित्त की स्थिति संस्कार मात्र में ही है । इस स्थिति को प्राप्त होने वाला योगी जीवन मुक्त हो जाता है, इसी का नाम निर्बीज समाधि है । यहां पर यह प्रश्न किया गया है :–

तदवस्थे चेतसि विषयाभावाद् बुद्धि बोधात्मा पुरुषः किं स्वभाव इति ।

अर्थात् इस अवस्था में विषय का अभाव हो जाने से बुद्धि बोधात्मा पुरुष कैसे स्वभाव वाला होता है इसके उत्तर में भगवान पतंजलि देव ने–

तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम् ।

तब जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थित होता है । योगी जिस समय निर्बीज समाधि में समाविष्ट होता है उस समय वह अपने नित्य शुद्ध स्वरूप में स्थित होता है । किन्तु ज्योंही समाधि से उठता है तो यह नियम है कि वह वृत्ति सारूप्य को प्राप्त हो जाता है । भगवान् पतंजलि देव कहते हैं

वृत्ति सारूप्यमित रत्र ,

व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयस्तद विशिष्ट वृत्तिः पुरुषः तथा च सूत्रम् एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनमिति ।

अर्थात् व्युत्थान के समय जैसी चित्त वृत्ति होती है, पुरुष उनमें मिला हुआ सा ही रहता है । क्योंकि—

चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं संनिधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति, पुरुषस्य स्वामिनः, तस्माच्चित्त वृत्ति बोधे पुरुषस्यानादि सम्बन्धो हेतुः ॥

क्योंकि अयस्कान्त मणि के समान चित्त पुरुष के लिए संनिधिमात्रोपकारि है । और पुरुष का अपना स्वत्व है जिस प्रकार से दर्पण में जपाकुसुम सामने करने से पुष्पाकृति भासित रहती है प्रत्युत उसमें कोई फूल होता नहीं है इसी प्रकार से चित्त भी पुरुष के लिए संनिधिमात्रोपकारि है । अतः चित्त में पुरुष भासित होता रहता है वस्तुतः होता नहीं है । इस लिए चित्त-वृत्ति बोध में पुरुष का अनादि सम्बन्ध ही कारण है । किन्तु चित्त त्रिगुणात्मक है इसलिए उसकी वृत्तियें भी गुणतारम्य से अनेक रूप से प्रगट होती रहती है । और वह सभी निरोद्धव्या है ।

योग दर्शन कार भगवान् पतंजलि देव ने चित्त वृत्तियों को पांच प्रकार से माना है उन पांचों प्रकारों में भी क्लिष्टा और अक्लिष्टा रूप से दो विशेष भेद है ।

क्लेशहेतुकाः कर्माशय प्रचय क्षेत्री भूताः क्लिष्टाः, ख्यातिविषया गुणाधिकार विरोधिन्योऽक्लिष्टाः, क्लिष्ट, प्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टाः, क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्यक्लिष्टा भवन्ति, अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा इति । तथाजातीयकाः संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते संस्कारैश्च वृत्तयः इत्येवं वृत्तिसंस्कार चक्रमनिशमावर्तते ।

तदेवम्भूतं चित्तमवसिताधिकारात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते प्रलय वा गच्छतीति, ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाश्च पंचधा वृत्तयः ॥

जो वृत्तियें कर्माशय प्रचय में क्षेत्री भूता है—अर्थात् जिनके कारण कर्माशय बनता रहता है ऐसी वृत्तियें क्लेशों की कारण भूता क्लिष्टा कहलाती हैं और जो वृत्तियें गुणाधिकार विरोधिनी हैं और विवेक ख्याति की ओर बढ़ाती है। वह वृत्ति अक्लिष्टा कहलाती है। किन्तु प्रकृति का एक स्वाभाविक नियम है कि क्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह में अक्लिष्टा और अक्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह में क्लिष्टा वृत्तियों का उदय देखने में आता है। इस प्रकार से वृत्ति संस्कार चक्र रात-दिन चलता रहता है। इस प्रकार से साधक ज्यों-ज्यों विवेक ख्याति की ओर बढ़ता है त्यों-त्यों चित्त के अधिकार समाप्त होते चले जाते है। ऐसी स्थिति में चित्त आत्म रूप से ठहरता है या प्रकृति में विलीन हो जाता है। इस प्रकार से क्लिष्टा क्लिष्ट भेद से वृत्तियें पांच प्रकार की हैं। वही पांच प्रकार की वृत्तियें क्लिष्ट और अक्लिष्टा रूपों में बदलती रहती हैं।

वृत्तियों के पांच प्रकार

प्रमाणविपर्यय विकल्प निद्रास्मृतयः ॥

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति यह पाँचों प्रकार की वृत्ति अपने विभिन्न रूपों में जाकर क्लिष्टा और अक्लिष्टा रूप धारण करती रहती हैं। जैसे प्रमाण वृत्ति—

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ।

व्यास भाष्य—

इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात्तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्ष प्रमाणम्।

फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः, बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुष इत्युपरिष्टा दुपपादयिष्यामः, अनुमेयस्य तुल्य जातीयेष्वनुवृत्तो भिन्न जातीयेभ्यो व्यावृत्तः संबन्धोयस्तद्विषया सामान्यावधारण प्रधाना वृत्तिरनुमानम्। यथा—देशान्तरप्राप्ते गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवद् विन्ध्यश्चाप्राप्तिरगतिः, आप्तेन दृष्टोऽनुमितोवाऽर्थ परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते शब्दात्तदर्थ विषया वृत्तिः श्रोतुरागमः यस्याश्रद्धेयार्थो वक्ता न दृष्टानुमितार्थः स आगमः प्लवते, मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवः स्यात्।

प्रत्यक्ष प्रमाण=अक्षणोविषयं प्रत्यक्षम्।

अर्थात् जो वस्तु आँखों का विषय हो अर्थात् आंखों देखी बात को ही प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप माना जाता है। हर वस्तु के दो रूप होते हैं एक सामान्य दूसरा विशेष जैसे कहीं जंगल में कोई गौ चर रही है कोई मनुष्य दूर से देखकर अनुमान पूर्वक कहता है कि यह गौ मालूम पड़ती है किन्तु कह नहीं सकते कि गौ ही है या और कोई पशु, इस प्रकार विचारते जब मनुष्य उस पशु के नजदीक पहुंचता है कि वह और कोई पशु नहीं है प्रत्युत गौ ही है। इसलिए इन्द्रिय प्रणालिका

के द्वारा सामान्य विशेषात्मक अर्थ का विशेष रूप धारण करने वाली वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया है। इस प्रत्यक्ष प्रमाण का फल ही पौरुषेय चित्त वृत्ति बोध है क्योंकि पुरुष जो है वह शुद्ध बोधात्मा है। साधक ज्यों ही पुरुष साक्षात्कार के लिए ध्यान का अभ्यास करता है।। प्रभु की कृपा से उसकी अन्तर्मुखी दृष्टि हो जाती है। जिसका फल यह निकलता है कि ध्याता सत्वाविष्ट पौरुषेय चित्त वृत्ति बोध को प्राप्त होता है। जब तक गुण वृत्ति बोध सम्बन्ध रहता है तब तक यही पौरुषेय चित्त वृत्ति बोध है। गुण सम्बन्ध टूट जाने के बाद गुणों का गुणों में अवस्थान हो जाता है, और आत्मा केवली भाव को प्राप्त हो जाता है। दूसरा प्रमाण अनुमान प्रमाण है, जो वृत्ति अनुमेय वस्तु के सदृश वस्तु में लगी होती है और उसके विपरीत विजातीय वस्तु से हटी हुई होती है। सामान्य विशेषात्मक अर्थों में सामान्य को धारण करने वाली वृत्ति को अनुमान प्रमाण कहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति यह जानता है कि गतिमान ही एक देश से दूसरे देश जा सकता है जिसमें गति नहीं है वह एक ही जगह कायम रहा करता है जैसे तारे और चन्द्रमा गति वाले हैं क्योंकि उनका एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना मालूम होता है। और विन्ध्याचल पर्वत अगति है क्योंकि वह एक स्थान से दूसरे स्थान नहीं जाता दिखाई देता प्रत्युत एक ही जगह कायम रहता है। एक जगह उसका कायम रहना ही अगति का द्योतक है। इसी का नाम अनुमान प्रमाण है अनुमान प्रमाण में यद्यपि साधक की दृष्टि सामान्य विशेषात्मक अर्थ के सामान्य रूप को ही धारण करती है। किन्तु वह सामान्य अर्थ भी विशेषार्थ का निश्चय कराता है जैसे कोई व्यक्ति कहे पर्वत से धुआं निकल रहा है इसलिये जहां धुआं होता है वहां आग का होना भी जरूरी है। क्योंकि 'यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः', इसलिए अनुमान प्रमाण भी विशेषार्थ को प्रकट करता है। साधक जिस समय ध्यानाभ्यास करना प्रारम्भ करता है उस समय आत्म साक्षात्कार के लक्षण प्रातिभ श्रावण दर्शन वेदनादि ज्यों ही प्रकट होने लगते हैं त्यों ही साधक अनुमान वृत्ति से भली प्रकार जान लेता है कि जहां पर प्रातिभ श्रावणादि लक्षण प्रकट हो जाते हैं वहां ही आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। यही अनुमान प्रमाण के द्वारा पौरुषेय चित्त वृत्ति बोध का रूपक है।

आगम प्रमाण=आप्त पुरुष के द्वारा देखा हुआ या सुना हुआ अर्थ दूसरों को अपना ज्ञान पहुँचाने के लिए वाणी के द्वारा कहा जाता है इसी को श्रोताओं के हितार्थ आगम प्रमाण कहते हैं। जिसका वक्ता दृष्टानुमितार्थ होता है वही आगम पतन से रहित होता है और जिसका वक्ता दृष्टानुमितार्थ नहीं होता उसका वचन भी कदापि सत्य नहीं होता इसलिए दृष्टानुमितार्थ वक्ता ही पौरुषेय वृत्ति बोध में कारण हो सकता है। अन्यथा नहीं। यही कारण है कि हमारे ऋषि मुनि लोगों

की वाणियें आज भी सफल मालूम होती है। और आजकल के अदृष्टानुमितार्थक अश्रद्धेय वक्ताओं की वाणी कभी भी यथार्थ देखने में नहीं आती। यही कारण है आज के युग में भविष्य वक्ताओं की वाणियें अयथार्थ होती है। इस विषय में मुझे एक बात याद आई। मैं एक बार एक स्थान पर योग प्रचारार्थ गया था वहाँ पर एक व्यक्ति ने मुझसे कहा कि तीन महीने के अन्दर-अन्दर अवश्य प्रलय आ जायेगी। मैंने तीन महीने उसी प्रान्त में वास किया किन्तु उसकी वाणी लवलेश मात्र से भी सत्य न हुई क्योंकि वक्ता अयथार्थ था और दृष्टानुमितार्थ नहीं था। अब तक वृत्ति का परिणाम रूप यहाँ समझाया गया। अब इससे आगे विपर्यय वृत्ति को बतलाते है। जिसको अविद्या रूप से कहा गया है।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्

यथार्थ रूप में स्थित न होने वाले ज्ञान को विपर्यय मिथ्या ज्ञान कहा गया है। यह ज्ञान एक प्रकार का भ्रान्ति दर्शन एवं अविद्या कहा जाता है। कोई-कोई लोग इस विपर्यय ज्ञान को भी प्रमाण वृत्ति के अन्दर समावेशित करने की चेष्टा करते हैं। किन्तु ऐसा हो नहीं सकता। प्रमाण वृत्ति का विषय पहले सूत्र में खोलकर बतला दिया गया है। उसमें प्रमाण के द्वारा अप्रमाण का बाध हो जाता है। जैसे आँख की विकृति से या आँख को दबाने से एक-एक वस्तु की दो दो वस्तु दीखने लगती हैं यथार्थ में वस्तु एक ही होती है दो नहीं। यदि आँख को दबाने से दो चन्द्रमा दिखाई देने लग जाय तो इसका अर्थ यह नहीं है कि एक चन्द्रमा के दो चन्द्रमा हो गये। चन्द्रमा एक ही है दूसरे चन्द्रमा का दीखना भ्रान्ति-दर्शन है। इसलिए वह प्रामाणिक बात नहीं मानी जाती। प्रत्युत अविद्या है क्योंकि वह अतद्रूप प्रतिष्ठित है। अब इससे आगे विकल्प वृत्ति का वर्णन करते है—

शब्दज्ञानानुपातीवस्तुशून्योविकल्पः ।

स न प्रमाणोपारोही, न विपर्ययोपारोही च, वस्तुशून्यत्वेऽपि शब्दज्ञानमाहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते, तद्यथा चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति। यदा चितिरेव पुरुषस्तदा किमत्र केन व्यपदिश्यते। भवति च व्यपदेशे वृत्तिः यथा चैत्रस्य गौरिति।

सूत्र में बहुत ही सरल और सीधे शब्दों भगवान् पतंजलि देव ने बतला दिया कि शब्द ज्ञान का अनुपतन करने वाली वृत्ति विकल्प वृत्ति है। शब्द ज्ञान से जो वस्तु भासित तो होती है वस्तुतः होती नहीं, यह विकल्प वृत्ति न प्रमाण में लगाई जा सकती है और न मिथ्या ज्ञान में; क्योंकि वह वस्तु सत्ता कुछ भी नहीं है। किन्तु शब्द ज्ञान से भासित होती है जैसे कोई कहे कि चेतनता ही पुरुष का स्वरूप है वस्तुतः तो चेतनता पुरुष का रूप नहीं प्रत्युत चितिरेव पुरुषः चेतनता ही पुरुष का स्वरूप है यह शब्द चेतनता को पुरुष का धर्म बतला रहे है किन्तु चेतनता पुरुष का धर्म नहीं। प्रत्युत चेतनता ही पुरुष है इसलिए वस्तुशून्य शब्द ज्ञान का अनुपतन करने वाली वृत्ति को विकल्प वृत्ति कहते हैं। इसके बाद निद्रा वृत्ति का वर्णन करते है।

अभाव प्रत्ययालम्बना वृत्तिनिद्रा ।

अर्थात् बोध के अभाव का आश्रय लेने वाली वृत्ति को निद्रा वृत्ति कहते हैं। जिस समय मनुष्य सुषुप्ति में पहुंच जाता है उस समय सभी प्रकार के ज्ञान का अभाव हो जाता है। अर्थात् ज्ञान भासित नहीं होता। इसलिए निद्रा वृत्ति अभाव के कारण का ही आश्रय लेती है। सभी प्रकार के ज्ञान की शून्यता रहती है इसीलिए इस वृत्ति को अभावआश्रित माना गया है। किन्तु है वृत्ति ही। क्योंकि सोने के बाद में जब मनुष्य उठता है तब उसको अपनी निद्रा वृत्ति का ज्ञान अवश्य होता है कि आज तो मैं बहुत ही सुखपूर्वक सोया। या दुःख पूर्वक सोया चित्त वृत्ति को दुःख और सुख के साथ सोने का आभास बना रहता है। देखिये इस सूत्र पर व्यासजी का भाष्य —

सा च संप्रबोधे प्रत्यवमर्शात् प्रत्यय विशेषः, कथं सुखमहमस्वाप्सं प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां मे विशारदी करोति, दुःख महमस्वाप्सं स्त्यानं मे मनोभ्रमत्यनव-स्थितं, गाढ़ मूढोऽहमस्वाप्सं गुरुणि मे गात्राणि क्लान्तं मे चित्तमलसं मुषित-मिव तिष्ठतीति, स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यादसति प्रत्ययानुभवे, तदाश्रिता स्मृतयश्च तद्विषया न स्युः, तस्मात् प्रत्ययविशेषो निद्रा, सा च समाधावितर प्रत्ययवन्निरोद्धव्येति ।

अभाव प्रत्यय का अवलम्ब लेने वाली वृत्ति प्रबोधकाल में एक विशेष ज्ञान को पैदा करती है। इसलिए वह प्रत्यय विशेष है, जैसे आज मैं सुख पूर्वक सोया, मेरा मन प्रसन्न है, बुद्धि प्रकाश कर रही है, मेरी बुद्धि विक्षिप्त है। मैं आज बिलकुल नहीं सोया मेरा मन अकर्मण्य सा हो रहा है आज मैं अत्यन्त गाढ़ निद्रा में सोया। मेरे शरीर के अंग भारी हो रहे हैं चित्त अत्यन्त व्याकुल है आलस्य युक्त मन चुराया सा हो रहा है। यदि निद्रा को वृत्ति न माना जाय तो जागने पर इस प्रकार के विचार मन में न आवें, क्योंकि वृत्तियों के अनुभव के बिना वृत्तियों का आश्रय लेने वाली स्मृतियें उस विषय की नहीं होनी चाहिए। इसलिए निद्रा भी अन्य वृत्तियों की तरह एक वृत्ति है। समाधिबल से इसका भी निरोध होना चाहिए। पांचवी वृत्ति स्मृति है। स्मृति का लक्षण भगवान् पतंजलि देव इस प्रकार करते हैं —

अनुभूत विषया संप्रमोषः स्मृतिः

अनुभव किए विषय का न चुराया जाना स्मृति कहलाती है इस सूत्र पर प्रश्नोत्तर लिए हुए व्यास भाष्य की पंक्ति पढ़िये —

किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति, आहो-स्विद्विषयस्येति ग्राह्यो परक्तः प्रत्ययोग्राह्य ग्रहणो भयाकार निर्भास स्तथाजातीयकं संस्कारमारभते, स संस्कारः स्वव्यञ्जकां जनस्तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृतिं जनयति । तत्र ग्रहणाकारपूर्वा

बुद्धिः, ग्राह्याकार पूर्वा स्मृतिः, सा च द्वयी–भावितस्मर्त्तव्या चाभावितस्मर्त्तव्या च, स्वप्ने भावितस्मर्त्तव्या, जाग्रत्समये त्वभावितस्मर्त्तव्येति, सर्वाः स्मृतयप्रमाण विपर्य्यय विकल्पनिद्रास्मृतीनामनुभावाद् भवन्ति, सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदुःख मोहात्मिकाः सुखदुःख मोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः, सुखानुशयी रागः, दुःखानुशयी द्वेषः मोहः पुनरविद्येति, एताः सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्याः आसां निरोधे संप्रज्ञातो वा समाधिर्भवत्यसम्प्रज्ञातो वेति।

ऊपर के सूत्र में यह बतलाया गया है कि अनुभूत विषय का न चुराया जाना ही स्मृति है। यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि पूर्व काल में अनुभव की वृत्तिओं को भी चित्त स्मरण करता है या विषय को, ग्राह्य विषय के अन्दर लगा हुआ बुद्धि का ज्ञान ग्राह्य ग्रहण उभयाकार में भावित होने वाला उसी प्रकार के संस्कार उत्पन्न करता है और वह संस्कार अपने कारण के आकार से बोधक होता हुआ ग्राह्य ग्रहणाकार स्मृति को जन्म देता है, उनमें से ग्रहणस्वरूप वाली बुद्धि और विषय के स्वरूप वाली स्मृति दो प्रकार की मानी गई है। एक का नाम भावितस्मृति एवं दूसरी का नाम अभावितस्मृति है अर्थात् एक स्मृति तो वो इस समय विद्यमान पदार्थों से बनती है और दूसरी वह जो अविद्यमान पदार्थों के स्मरण से बनती है। स्वप्नावस्था में जिन पदार्थों का स्मरण होता है। वह जाग्रतावस्था में प्रायः देखे हुए होते हैं इसलिये इसको भावितव्यास्मृति कहते हैं। और जाग्रत अवस्था में स्वप्नावस्था के पदार्थों की स्मृति होती है वह अभावितव्यास्मृति कहलाती है। और ये सारी स्मृतियें प्रमाण-विपर्य्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृति इन पाँचों के अनुभव से पैदा होती हैं। ये सब स्मृतियें सुख दुःख एवं मोह रूप हैं। सुख-दुःख मोह आदि क्लेशों के अन्तर्गत बतलाए गये हैं। जैसे सुखानुशयी रागः, सुख भोग के बाद जो सुख की वासनायें मन में रह जाती है वही राग कहलाता है। दुःखानुशयी द्वेषः, दुःख भोगने के बाद दुःख भोग के कारण भूत साधनों पर जो क्रोध पैदा होता है उसीको द्वेष कहते हैं। मोह नाम अविद्या का है ये सभी वृत्तियें निरोधव्या हैं। इनके निरोध करने के लिए संप्रज्ञात योग ही प्रधान उपाय है। जहाँ से भगवान् पतंजलि देव ने—

प्रमाण-विपर्य्यय-विकल्पस्मृति आदि लक्षण बतलाये उनके आरम्भ में ही चित्त वृत्ति निरोधो योगः, कह करके चित्त वृत्तियों के निरोध का आशीर्वाद दिया। ग्राह्य ग्रहण उभयात्मक ज्ञान चित्त वृत्ति निरोध के द्वारा ही हटाया जा सकता है। अन्य और कोई उपाय नहीं है। इसी कारण से भगवान् पतंजलि देव ने चित्त वृत्ति निरोधः कहकर के निरोध को ही योग बतलाया। और निरोध के उपायों का भी वर्णन किया। इस छोटे से लेख में हमने चित्त की वृत्तियों के क्लिष्टा-क्लिष्ट वृत्तियों के रूप को समझाने की चेष्टा की। इससे आगे के लेख में चित्त-वृत्ति निरोध

के उपायों पर विचार करेंगे। चित्त की वृत्तियाँ शाखा प्रशाखा रूप से चाहे कितने ही रूप धारण करलें किन्तु वे सब के सब प्रमाण विपर्यय-विकल्प-निद्रा एवं स्मृति के अन्तर्गत ही होती हैं। इन वृत्तियों के निरोध हो जाने पर छोटी मोटी सभी वृत्तियाँ स्वतः ही निरुद्ध हो जायेंगी। हमारे सब प्रकार से परिपूर्ण अनुभव वाले आचार्यों ने इन सभी सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्तियों को भली प्रकार समझ कर प्रमाण-विपर्यय आदि के अन्दर समावेशित करके दिखला दिया। इनके निरोध के लिए क्या करना चाहिए। इससे आगे के विषय को अग्रिम लेख में समझाने की चेष्टा करेंगे।

तीव्र संवेग

तीव्र संवेगानामासन्नः। —योग १।२१

जो मनुष्य अपने मन में प्रबल संवेग भर देते हैं उन का कार्य शीघ्र सिद्ध होता है है। और इस संवेग को भी, मृदु मध्य और तीव्र इन तीनों में से किसी भी विशेषता से युक्त कर प्रयोग में लाया जावे तो क्रम से कुछ शीघ्र, उस से भी शीघ्र और उस से भी शीघ्र कार्य-सिद्धि होती है।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने मन को तीन प्रकार के संस्कारों से रंगा हुआ पाता है। एक तो वे संस्कार हैं जिन्हें मृदु कहते हैं, अर्थात् जिनका बहुत फीका सा रङ्ग मन पर चढ़ा है। इन संस्कारों को नाम मृदुसंवेग है। दूसरे वे संस्कार हैं जिनका रङ्ग अन्तःकरण पर कुछ गहरा चढ़ा है, इस संस्कारों को मध्य संवेग संस्कार कहते हैं। और एक तीसरे ढंग का संस्कार है, जिसका रङ्ग मन पर इतना गहरा चढ़ा है कि किसी और रङ्ग को अपने आधार मन से स्पर्श ही नहीं करने देता। इस संस्कार का नाम तीव्र संवेग संस्कार है। इसी का दूसरा नाम विल-पावर है।

जिस मनुष्य के पास यह शक्ति नहीं उस के अच्छे से अच्छे उपदेश पर भी कोई ध्यान नहीं देता। सारथि बन कर औरों को अपने पीछे चलाने की बात तो दूसरी है, वह अपने इन्द्रिय आदि अध्यात्म साथियों को भी अपनी इच्छा के अनुसार अपने पीछे नहीं चला सकता।

ध्यान योग

[श्री किशोरीलाल शास्त्री]

योग के विषय में महर्षि पतंजलि ने योग-दर्शन का निर्माण कर यद्यपि साधकों को योगाभ्यास के मार्ग का क्रमानुसार अनुसरण करते हुए अपने लक्ष्य ब्रह्म प्राप्ति तक पहुँचने के लिये यमादि ८ अंगों का पूर्ण विवेचन कर दिया है। उनमें आने वाले प्रत्यवायों (विघ्नों) से और प्रलोभनों से बचने का भी स्पष्ट निर्देश किया है। परन्तु बहुशः यही देखा गया है और सुना भी गया है कि अष्टांग योग का क्रमानुसार अभ्यास करने वाला साधक मार्ग से प्रायः च्युत ही हो जाता है। ऐसा क्यों है इस पर तर्क संगत विचार विमर्श होना अत्यावश्यक है। इस सम्बन्ध में कुछ विचार इस प्रकार के हैं। योग दर्शन में योग का लक्षण लिखा है

(योगश्चित्त वृत्ति निरोधः)

अर्थात् चित्त (मन) की वृत्तियों का निरोध हो जाना ही योग है। और चित्त की वृत्तियां असंख्य हैं उनके निरोध के उपाय भी असंख्य ही होना चाहिये। इस पर भी अब विचारिये कि कैसे चित्त-वृत्ति का निरोध हो सकेगा। चित्त-वृत्ति निरोध के लिये दर्शन शास्त्र में लिखा है कि—

विषयेषु दोषानुदर्शनम्

अर्थात् इन्द्रियों के विषयों में दोष अर्थात् बुराइयां (हानियां) देखो। उनसे डर कर इन्द्रियों के विषयों का सेवन मत करो। अब साधक को देखना, सुनना, खाना पीना, सूंघना और छूना सभी पर कंट्रोल करना है। इसके लिये ही यमों और नियमों का दृढ़ अभ्यास अपेक्षित है। जो सर्वथा असंभव सा ही मालूम पड़ता है, क्योंकि संसार का संग नहीं छोड़ा जा सकता। यदि आप कहें कि इसी लिये तो वन में एकान्त वास योगी के लिये अनुकूल साधन है। तो इसके सम्बन्ध में भी पुराणों उपनिषादि ग्रंथों में बहुत से ऐसे आख्यान देखने को मिले हैं जिन से यह स्पष्ट है कि वन का एकान्तवास भी निरापद नहीं है। बहुत से साधक पशु पक्षियों, जलचरादि जंतुओं के सांसारिक व्यवहार को देखकर अपने साधन से च्युत हो गये हैं, इन्हीं सब बातों को स्मरण करके ही अर्जुन (जीव) श्री भगवान् कृष्ण (ब्रह्म) के सामने घबड़ा कर कहता है कि—

मनो दुर्निग्रहं चलम्

अर्थात् मन बड़ा चंचल है, और बहुत कठिनाई से ही वश में किया जा सकता है या इन्द्रियों के विषयों से मोड़ा जा सकता है। क्योंकि यदि एक ही इन्द्रिय के विषय की ओर इसका आकर्षण हो गया तो फिर सारा परिश्रम व्यर्थ हो जावेगा फिर से श्री गणेश करना पड़ेगा।

इन्द्रियाणां हि चरतां,
यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां,
वायुर्नाव मिवांभसि ॥

यदि यह कहा जाय कि एक इन्द्रिय के विषय सेवन से कोई हानि नहीं हो सकती क्योंकि चार इन्द्रियों के विषयों पर तो संयम है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही इन्द्रिय के विषय में आसक्ति होने से ही तो मृग, हाथी, पतंग, भृंग और मीन भी बंधन में पड़ जाते हैं, इसी से मनुजी ने स्पष्ट ही लिखा है:—

इन्द्रियाणांतुसर्वेषां,
यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञां,
दृते पात्रादिवोदकम् ॥

अर्थात् इन इन्द्रियों में से यदि एक ही इन्द्रिय अपने विषय की ओर बह जाती है तो उसकी प्रज्ञा (साधना शक्ति-ज्ञान) इस प्रकार बह जाता है जैसे चमड़े के पात्र (मसक) में एक छिद्र हो जाने पर उससे सब जल निकल जाता है।

यदि कोई विचारे कि मन की कामना को पूरा कर देने पर ही मन को रोका जा सकेगा तो यह भी गलत है क्योंकि कामनाओं के भोगने से काम (इच्छा) कभी शांत नहीं होती, प्रत्युत अधिक भोग ने की इच्छा प्रबल होती जाती है, जैसे जलती हुई आग में घृत डालने से कभी भी अग्नि शांत नहीं होती बल्कि अधिक प्रज्वलित होती जाती है —

न जातु कामः कामानां,
उपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्ण वर्त्मेव,
भूय एवाभिवर्धते ॥

इससे इन्द्रिय संयम ही सब पुरुषार्थों का मुख्य साधन है। इसी से मन को संयम में चलाया जा सकता है, और सफलता प्राप्त की सकती है। यथा :—

वशे कृत्वेंद्रिय ग्रामं,
संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान संसाधयेदर्थान,
अक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥

मनु॰ २ अ. १०० श्लोक

यहां मनु ने योगतः का अर्थ उपाय से किया है और तनु (शरीर) के क्षीण न करने की ओर भी संकेत किया है। बिना इन्द्रियों के विषयों को भोगे शरीर कैसे स्वस्थ रहेगा यही

एक असंभव सा प्रश्न है। परन्तु उन्होंने कहा है योगतः अर्थात् उपाय से। यह उपाय हम को जानना है। इसके लिये स्वयं भी साधक सोच सकता है। यदि अपने विचार में न आवे तो सिद्ध पुरुषों से जिज्ञासा करने पर समाधान प्राप्त होगा। इसके लिये सरल साधन तो यही प्रतीत होता है कि इन्द्रियों के विषयों से अपने उपभोग की भावना को पृथक किया जा वे। यह तब होगा जब हमारा भाव यह बन जावे कि साध्य वस्तु हमारा कभी भी अहित नहीं करेंगी। यह भाव भी तब बनेगा जब उस वस्तु को हम किसी ऐसी शक्ति से प्रभावित समझेंगे जो हमेशा हमारे निष्कारण हितैषी के द्वारा उसमें निहित की गई होगी। संसार में ऐसा निष्कारण हितैषी तो परब्रह्म परमात्मा ही है जो कभी कृपा करके हम को साधन धाम मानव शरीर प्रदान करता है:

कबहुँक करि करुणा नरदेही।
देत राम बिनु हेतु सनेही॥
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा।
पाय न जो परलोक सुधारा॥

सो कृत निन्दक मंदमति,
शिर धुनि धुनि पछताय।
आतम हन गति जाय॥

इसी बात को वेदों में भी स्पष्ट कहा है:

यमेष वृणुते तेन लभ्यः

अर्थात् जिस जीव को परमात्मा अपने में लीन करना चाहता है वही जीव उसे प्राप्त कर सकता है। यदि उसकी अहैतुकी कृपा है। इसे प्राप्त करने के लिये उसने अपने प्रतिनिधि को श्री गुरुदेव के रूप में हमें सुलभ कर दिया है। तभी तो महर्षियों ने कहा है:

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु,
गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरु साक्षात् पर ब्रह्म,
तस्मै श्री गुरवे नमः॥

हम भी श्री गुरुदेव के चरणों का सदा ध्यान करते हुऐं उनकी अहैतुकी कृपा के अधिकारी बनें। [क्रमशः

जो चाहो चटक न घटै, मैलो होय न मित्त।
रज राजस न छुआइए, नेह चीकने चित्त॥

सिद्ध: उनकी कृपा

और

उसका फल

[श्री आचार्य चन्द्रदास शर्मा एम. ए. एम. एड.]

संसार के सभी प्राणी यथा मति साधना के विविध मार्गों का अवलंब लेकर शक्ति संचय में लगे हुए हैं। किन्तु ऐसे मनुष्य अधिक नहीं है। जनसंख्या का अधिकांश भाग ईश्वर प्रदत्त शक्ति को व्यसनों के बाजार में खर्च करने में लगा हुआ है। जिनके अनेक जन्मों के संचित पुण्य-कर्म उदित होते हैं तो उन्हें आध्यात्मिक मार्ग में उत्तरोत्तर प्रगति कराने वाले किसी सिद्ध पुरुष की अनुकम्पा होती है। बिना सिद्ध-अनुकम्पा के कोई भी प्राणी कृतकृत्य नहीं हो पाता। साधन, भजन, जप, तप, षट कर्म मन की एकाग्रता के साधन हैं। एकाग्र मन होने पर अन्तर्जगत में प्रवेश करने की योग्यता आती है। जब प्राणी पात्र बन जाता है तो कोई सिद्ध उस पर परम कृपा करके शक्ति-पात करता है और शक्तिपात से उसे दिव्य दृष्टि देता है। बिना दिव्य-दृष्टि के अन्तर्जगत के खजाने का दर्शन उसे नहीं हो पाता। सिद्ध का संग प्राप्त होने पर सिद्ध पुरुष अपने संकल्प से उसके अभिमत की पूर्ति की प्रार्थना करता है। उसकी प्रार्थना और आशीर्वाद से साधक की साधना सफलता की ओर मुड़ जाती है। बिना सिद्धानुकम्पा के ज्ञानी हो या भक्त या अन्य कोई वह सहज आनन्द रूप समाधि अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता। योगोपनिषद् में भगवान सदाशिव का वचन है:—

देहान्ते ज्ञानिभिः,
पुण्यात्पापाश्च फलमाप्यते।
ईदृशं तु भवेत्तत्तद् भुक्त्वा,
ज्ञानी पुनर्भवेत् ॥
पश्चात् पुण्येन लभते,
सिद्धेन सह संगतिम्।
ततः सिद्धस्य कृपया,
योगी भवति नान्यथा।
ततो नश्यति संसारो,
नान्यथा शिव भाषितम् ॥

अर्थात् शरीरान्त हो जाने के बाद ज्ञान-वालों को भी पाप और पुण्य के फलस्वरूप फल प्राप्त करना पड़ता है। जब पुण्य का प्रभाव अधिक बढ़ जाता है तब पुण्य के प्रभाव से सिद्ध पुरुषों की संगति प्राप्त होती है। सिद्धानुकम्पा से ही साधक परमात्मा के स्वरूप के साथ एकाकार होने वाला योगी बनता है।

योगी होने के बाद ही संसार का जन्म-मरण का चक्र छूट पाता है, ऐसा शंकर भगवान का सत्य कथन है। सिद्धानुकम्पा गुरुदेव, इष्टदेव अथवा किसी महापुरुष की कृपा के रूप में पहिले मिलती है। उसके बाद हृदयस्थ आदि सिद्धि-पुरुष हर समय मार्ग-दर्शन करने लगते हैं। हृदयस्थ आत्म-ज्योति रूप सिद्ध या गुरु-तत्व योगी का उपाध्याय बन कर उसे मार्ग-दर्शन देता जाता है कि—'इयम् अन्तरा इयम् भूमिः' अर्थात् इस अनुभूति के बाद यह अनुभूति होगी और इस प्रकार अन्तर्ज्योति का प्रकाश कोटि सूर्य के समान आज्वल्यमान प्रकाश में लीन हो जाता है। तभी योग का अर्थ सार्थक होता है। संसार में जितने भी भक्त ज्ञानी हुए हैं उन पर किसी न किसी रूप में सिद्धों का शक्ति-पात अवश्य हुआ है।

सिद्धानुकम्पा पुण्यों के राशिभूत होने पर प्राप्त होती है। उनके दर्शन से निवृत्ति प्रधान प्रारब्ध का उदय होता है। सन्त शिरोमणि तुलसी का वचन इसका साक्षी है—

"बड़े भाग पाइब सतसंगा।
बिनहि प्रयास होहि भव भंगा॥
पुण्य पुंज बिन मिलहिं न सन्ता।
सत् संगति संसृति कर अन्ता॥

सन्तों की कृपा प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है पुण्यों का संचय किया जाय। पुण्य सबसे अधिक ब्राह्मणों की सेवा से बढ़ते हैं जो आस्तिक ब्राह्मणों की तन,मन,धन, से सेवा करता है उसमें दैवीय सम्पत्ति का विकास होता है और देवता, ऋषि, सिद्ध उसके सामने आकर उसे दर्शन दिया करते हैं। सन्त तुलसी ने पुण्य संचय के लिए सुगम साधन का उल्लेख करते हुए कहा है -

"पुण्य एक जग महुँ नहिं दूजा।
मन क्रम वचन विप्र पद-पूजा॥
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा।
जो तजि कपट करहिं द्विज सेवा॥

द्विज सेवक सत्व-गुण से भरपूर हो जाते हैं। राम कथा के अधिकारी द्विज सेवक हैं। कागभुशुण्डजी राम कथा के अधिकारी निरूपण प्रसंग में कहते हैं—

'गुरु पद प्रीति नीति रत जेई।
द्विज सेवक अधिकारी तेई॥

द्विज द्रोही सद्गति के मार्ग से वंचित होने के साथ-साथ निकृष्ट योनियों में भटकते हैं। गरुड़ जी के सप्त प्रश्नों के उत्तर सन्त और असन्तों के स्वभाव में अन्तर बताते हुए कागभुशुण्ड जी द्विज निंदक असन्तों की गति का उल्लेख करते हैं:—

द्विज निन्दक बहु नरक भोग करि।
जग जनमय वायस शरीर धरि॥

द्विज-द्रोही वंश हीन हो जाते हैं।

वंश कि रह द्विज अनहित कीन्हें।
कर्म कि होहि स्वरूपहि चीन्हें॥

सन्तोषी, क्षमाशील, परोपकारी तथा शास्त्र परायण द्विज प्रभु को सबसे अधिक प्रिय है। उनसे वैर कर कोई भी प्राणी अपना उत्कर्ष नहीं कर सकता। जिस पर द्विज प्रसन्न होते हैं उस पर सिद्ध तथा गुरु सभी कृपा करते है और विप्र जिससे असंतुष्ट हो जाते है उसका रक्षक कोई नहीं है। कागभुशुण्डजी अपना वृत्तान्त सुनाते हुए कहते हैं कि—गुरु का अपमान करने से उनकी कितनी अधोगति हुई। किन्तु एक वैदिक ब्राह्मण की कृपा से गुरु का शाप कैसे मुक्त हुआ। भगवान शंकर अपने श्री मुख से द्विज का महत्व स्वीकार करते हैं:—

क्षमाशील जे पर उपकारी।
ते द्विज मोहि प्रिय जथा खरारी॥
अब जनि करहि विप्र अपमाना।
जाने सु मन्त अनन्त समाना॥
इन्द्र कुलिश मम शूल विशाला।
काल दंड हरि चक्र कराला॥
जो इन कर मारा नहि मरई।
विप्र द्रोह पावक सो जरई॥

द्विज सेवा के बाद सिद्धों की कृपा प्राप्त करने का दूसरा उपाय स्वाध्याय है। महर्षि पतंजलि ने स्वाध्याय का विवेचन करते हुए लिखा है—

'स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः।'
योग २।४४

इस सूत्र का भाष्य करते हुए व्यास देवजी ने लिखा है—

देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्याय-शीलस्य दर्शनं गच्छन्ति कार्ये चास्य-वर्तन्त इति॥

अर्थात् वेदादि शास्त्र तथा प्रणव आदि ईश्वर के पवित्र नामों के जप, रूप, स्वाध्याय से अपने अभिमत देवता का साक्षात्कार होता है। योगी जिन देवता, ऋषि और सिद्धों का दर्शन करना चाहें वे देव, ऋषि तथा सिद्ध पुरुष स्वाध्यायशील के समक्ष उपस्थित होते हैं और जिस कार्य का संपादन करने की प्रार्थना योगी करता है, वे लोग उसका कार्य संपादन करने लग जाते हैं।

वीतराग महापुरुष का चिन्तन, मनन, ध्यान, तथा गुरु मन्त्र का जप करने से सिद्धों के दर्शन होते हैं। बिना सिद्धों की कृपा के षट् चक्र भेदन करके उसके ऊपर की भूमियों में प्रवेश नहीं हो सकता। उन भूमियों में प्रवेश पाने के लिए सिद्धों की ताकत का सहारा लेना ही पड़ता है। सिद्धों के दर्शन का अन्य उपाय है आज्ञा-चक्र में संयम। आज्ञा चक्र की मूर्द्धा ज्योति में धारणा, ध्यान तथा समाधि रूप संयम करने से दिव्य सिद्ध पुरुषों का दर्शन होता है। योग-दर्शनकार भगवान पतञ्जलि निर्देश करते हैं:—

मूर्धज्योतिषि सिद्ध दर्शनम्।
शिरः कपालेऽन्तश्छिद्रं,
भास्वरं ज्योतिः॥

तत्र संयमं कृत्वा सिद्धानां, द्यावापृथिव्योरन्तराल चारिणां। दर्शनम् ॥

अर्थात् मस्तक के कपाल-प्रदेश में मध्य के छिद्र में सुषुम्ना नाड़ी सात्विक प्रकाश से जगमगाती है उसमें संयम करने से आकाश और पृथिवी के मध्य में विचरने वाले सिद्ध पुरुषों का दर्शन प्राप्त होता है। उनके दर्शन मात्र से साधक के जीवन के वर्तमान अन्तराय निवृत्त हो जाते हैं जिससे जो साधक अब तक इधर-उधर हाथ पटककर किंकर्त्तव्य विमूढ़ बना तम के आवरण से आच्छादित था वह रजोगुण के क्षेत्र अर्थात् सत् कर्म में प्रवृत्त होता है और अपना लक्ष्य निर्धारित कर लेता है। आज्ञाचक्र के द्विदल-कमल में सोऽहं की द्वैतानुभूति सिद्धानुकम्पा से ही साध्य है। इस भूमि में पहुँचने के बाद योगी को मन्त्र की शक्ति के साथ-साथ मन्त्र दृष्टा ऋषि की शक्ति भी प्राप्त होती है जिससे उसे आगे बढ़ने में सरलता हो जाती है। इसके नीचे की भूमियों में रमण करते रहने पर पतन का डर बना रहता है किन्तु इस भूमि पर उसे सद्गुरु के रूप में एक मूर्तिमती शक्ति, श्रद्धा और विश्वास प्राप्त हो जाता है जिसका संबल पकड़ कर योगी दशम द्वार तक निर्भीकता से बढ़ता चला जाता है। बिना सद्गुरुदेव के साधन और पुरुषार्थ के फलस्वरूप यौगिक शक्तियों का उत्थान होता अवश्य है परन्तु पहाड़ पर जल वृष्टि के समान ही उनका लाभ हो पाता है।

साधन और अभ्यास करते-करते जब क्लेश-कर्म क्षीण हो जाते हैं और प्रारब्ध कर्म प्रतनु होकर भोग-काल में उपस्थित होते हैं उस समय ईश्वर का अनुग्रह होता है। पश्चिमी जीवन दर्शन की इसलिए यह बहुश्रुत मान्यता सत्य है कि 'God helps those who helps them selves' हिम्मते मर्दां मददे खुदा' श्रद्धा तथा आदर के साथ नियमित और निरन्तर रूप से किया हुआ तीव्र अभ्यास सद्य फलदायक होता है। कहा भी है—

अतिशय रगड़ करे जो कोई।
अनल प्रकट चन्दन ते होई ॥

साधन, भजन, तीर्थाटन, जप, तप आदि साधनों का इतना ही फल है कि वे सिद्धानुकम्पा का पात्र बना देते हैं। सिद्ध-दर्शन से निर्विकार, निलिप्त साक्षी चैतन्य आत्मा को प्रकृति के त्रिगुणात्मक सुख-दुख आदि परिणाम से भिन्न निज शुद्ध स्वरूप का बोध हो जाता है। उस समय उसमें शाश्वत् सुख, शान्ति और आनन्द स्वतः उच्छलित होने लगता है। सन्त शिरोमणि तुलसी ने इसी अवस्था के लिए कहा है—

मम दर्शन फल परम अनूपा।
जीव पाव निज सहज स्वरूपा ॥

सिद्धों की श्रेणियाँ :—

देवाधिदेव महादेव सिद्धों के भी सिद्ध हैं। योग मार्ग के पथिक को प्रकृति के सूक्ष्म और अन्तिम आवरण रूप 'तम' का भेदन कराके निर्विकार वैखरी स्थिति में पदार्पण करने की सामर्थ्य आशुतोष भगवान् शंकर की कृपा के बिना नहीं हो पाती। ईश्वर कोटि के सिद्ध अनादि सिद्धों की श्रेणी में आते हैं जिनके विषय में भगवान पतंजलि देव कहते हैं कि—उनका सानिध्य लाभ होने से तथा ध्यान करने से शीघ्र ही समाधि लाभ हो जाता है। 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' इस सूत्र की व्याख्या में व्यासदेव कहते हैं—

प्रणिधानात् भक्ति विशेषात् आवर्जित ईश्वरः तम् अनुगृह्णाति अभिध्यान मात्रेण। तदभि ध्यान मात्रादपि योगिनः आसन्नतरः समाधि लाभः समाधि फलं च भवति।

अर्थात् ईश्वर प्रणिधान रूप भक्ति विशेष से ईश्वर प्रसन्न हो जाते हैं। और भक्त पर प्रसन्न होकर इस संकल्प मात्र से मेरे भक्त का अभीष्ट सिद्ध हो, योगी को कृतकृत्य कर देते हैं। इस प्रकार ईश्वर के संकल्प रूप अनुग्रह से अत्यन्त शीघ्र ही समाधि का फल कैवल्य प्राप्त होता है।

ईश्वर की सत्ता के विषय में लोगों को सन्देह न हो इसलिए भगवान पतंजलि ने पूर्व पक्ष की इस शंकाप्रधान और पुरुष से भिन्न ईश्वर कौन है ? का समाधान ईश्वर का लक्षण करके किया।

'क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः'।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूप पंच क्लेश तथा उनसे उत्पन्न शुभ और अशुभ कर्म और उनसे होने वाले जाति, आयु भोग और सुख दुख रूप परिणाम तथा उनकी वासना रूप संस्कार इन चारों पदार्थों से जो बिल्कुल ही छूआ नहीं गया उस जीव विशेष का नाम ईश्वर है। ईश्वर कर्तुं म कर्तुं मन्यथा कर्तुं म सर्वथा शक्तः सर्व सामर्थ्यवान नित्य योग युक्त है। दूसरी कोटि के मुक्त जीव भी सिद्ध हैं किन्तु ऐसे जीवन्मुक्त और ईश्वर कोटि के नित्य सिद्धों में आधारभूत अन्तर स्पष्ट करते हुए व्यासजी लिखते हैं :—

ते हि त्रीणी बन्धनानि,
छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः।
ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो,
न भूतो न भावी॥

अर्थात् अन्य जीवन्मुक्त सिद्ध पुरुष प्रकृति के इन्द्रियों के तथा देवादिकों के प्राकृतिक, वैकारिक तथा दक्षिणादि तीनों बन्धनों को काट कर कैवल्यावस्था को प्राप्त हुए हैं। ईश्वर में ये बन्धन न पहिले थे और न कभी होंगे। इसीलिए रामकृष्ण आदि अवतारों

तत्र संयमं कृत्वा सिद्धानां, द्यावापृथिव्योरन्तराल चारिणां। दर्शनम्॥

अर्थात् मस्तक के कपाल-प्रदेश में मध्य के छिद्र में सुषुम्ना नाड़ी सात्विक प्रकाश से जगमगाती है उसमें संयम करने से आकाश और पृथिवी के मध्य में विचरने वाले सिद्ध पुरुषों का दर्शन प्राप्त होता है। उनके दर्शन मात्र से साधक के जीवन के वर्तमान अन्तराय निवृत्त हो जाते हैं जिससे जो साधक अब तक इधर-उधर हाथ पटककर किंकर्तव्य विमूढ़ बना तम के आवरण से आच्छादित था वह रजोगुण के क्षेत्र अर्थात् सत् कर्म में प्रवृत्त होता है और अपना लक्ष्य निर्धारित कर लेता है। आज्ञाचक्र के द्विदल-कमल में सोऽहं की द्वैतानुभूति सिद्धानुकम्पा से ही साध्य है। इस भूमि में पहुँचने के बाद योगी को मन्त्र की शक्ति के साथ-साथ मन्त्र द्रष्टा ऋषि की शक्ति भी प्राप्त होती है जिससे उसे आगे बढ़ने में सरलता हो जाती है। इसके नीचे की भूमियों में रमण करते रहने पर पतन का डर बना रहता है किन्तु इस भूमि पर उसे सद्गुरु के रूप में एक मूर्तिमती शक्ति, श्रद्धा और विश्वास प्राप्त हो जाता है जिसका संबल पकड़ कर योगी दशम द्वार तक निर्भीकता से बढ़ता चला जाता है। बिना सद्गुरुदेव के साधन और पुरुषार्थ के फलस्वरूप यौगिक शक्तियों का उत्थान होता अवश्य है परन्तु पहाड़ पर जल वृष्टि के समान ही उनका लाभ हो पाता है।

साधन और अभ्यास करते-करते जब क्लेश-कर्म क्षीण हो जाते हैं और प्रारब्ध कर्म प्रतनु होकर भोग-काल में उपस्थित होते हैं उस समय ईश्वर का अनुग्रह होता है। पश्चिमी जीवन दर्शन की इसलिए यह बहुश्रुत मान्यता सत्य है कि 'God helps those who helps them solves' हिम्मते मर्दां मददे खुदा' श्रद्धा तथा आदर के साथ नियमित और निरन्तर रूप से किया हुआ तीव्र अभ्यास सदा फलदायक होता है। कहा भी है—

अतिशय रगड़ करै जो कोई।
अनल प्रकट चन्दन ते होई॥

साधन, भजन, तीर्थाटन, जप, तप आदि साधनों का इतना ही फल है कि वे सिद्धानुकम्पा का पात्र बना देते हैं। सिद्ध-दर्शन से निर्विकार, निर्लिप्त साक्षी चैतन्य आत्मा को प्रकृति के त्रिगुणात्मक सुख-दुख आदि परिणाम से भिन्न निज शुद्ध स्वरूप का बोध हो जाता है। उस समय उसमें शाश्वत् सुख, शान्ति और आनन्द स्वतः उच्छलित होने लगता है। सन्त शिरोमणि तुलसी ने इसी अवस्था के लिए कहा है—

मम दर्शन फल परम अनूपा।
जीव पाव निज सहज स्वरूपा॥

सिद्धों की श्रेणियाँ :—

देवाधिदेव महादेव सिद्धों के भी सिद्ध हैं। योग मार्ग के पथिक को प्रकृति के सूक्ष्म और अन्तिम आवरण रूप 'राग' का भेदन कराके निर्विकार चैतन्यादी स्थिति में पदार्पण कराने की सामर्थ्य आशुतोष भगवान् शंकर की कृपा के बिना नहीं हो पाती। ईश्वर कोटि के सिद्ध अनादि सिद्धों की श्रेणी में आते हैं जिनके विषय में भगवान पतंजलि देव कहते हैं कि—उनका सान्निध्य लाभ होने से तथा ध्यान करने से शीघ्र ही समाधि लाभ हो जाता है। 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' इस सूत्र की व्याख्या में व्यासदेव कहते हैं—

प्रणिधानात् भक्ति विशेषात् आवर्जित ईश्वरः तम् अनुगृह्णाति अभिध्यान मात्रेण। तदभि ध्यान मात्रादपि योगिनः आसन्नतरः समाधि लाभः समाधि फलं च भवति।

अर्थात् ईश्वर प्रणिधान रूप भक्ति विशेष से ईश्वर प्रसन्न हो जाते हैं। और भक्त पर प्रसन्न होकर इस संकल्प मात्र से मेरे भक्त का अभीष्ट सिद्ध हो, योगी को कृतकृत्य कर देते हैं। इस प्रकार ईश्वर के संकल्प रूप अनुग्रह से अत्यन्त शीघ्र ही समाधि का फल कैवल्य प्राप्त होता है।

ईश्वर की सत्ता के विषय में लोगों को संदेह न हो इसलिए भगवान पतंजलि ने पूर्व पक्ष की इस शंकाप्रधान और पुरुष से भिन्न ईश्वर कौन है ? का समाधान ईश्वर का लक्षण कर के किया।

'क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः'।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूप पंच क्लेश तथा उनसे उत्पन्न शुभ और अशुभ कर्म और उनसे होने वाले जाति, आयु भोग और सुख दुख रूप परिणाम तथा उनको वासना रूप संस्कार इन चारों पदार्थों से जो बिल्कुल ही छुआ नहीं गया उस जीव विशेष का नाम ईश्वर है। ईश्वर कर्तुं मकर्तुं मन्यथा कर्तुं म सर्वथा शक्तः सर्व सामर्थ्यवान नित्य योग युक्त है। दूसरी कोटि के मुक्त जीव भी सिद्ध हैं किन्तु ऐसे जीवन्मुक्त और ईश्वर कोटि के नित्य सिद्धों में आधारभूत अन्तर स्पष्ट करते हुए व्यासजी लिखते हैं :—

ते हि त्रीणी बन्धनानि,
छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः।
ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो,
न भूतो न भावी॥

अर्थात् अन्य जीवन्मुक्त सिद्ध पुरुष प्रकृति के इन्द्रियों के तथा देवादिकों के प्राकृतिक, वैकारिक तथा दक्षिणादि तीनों बन्धनों को काट कर कैवल्यावस्था को प्राप्त हुए हैं। ईश्वर में ये बन्धन न पहिले थे और न कभी होंगे। इसीलिए रामकृष्ण आदि अवतारों

पुरुष मायापति कहलाते हैं। अपनी संकल्प शक्ति से लीला करने के लिए ही शरीर धारण करते हैं। किन्तु उस अवस्था में उनका सर्वज्ञत्व धर्म कभी नष्ट नहीं होता। अपने नित्य सिद्धस्वरूप का बोध कराते हुए भगवान श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि च तवार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वम् वेत्थ परंतप।

हे अर्जुन। हमारे तुम्हारे अनेक जन्म हुए किन्तु तुम जीव कोटिक अल्प ज्ञत्वादि-विशिष्ट चैतन्य होने से उन जन्मों को नहीं जानते किन्तु मैं सर्वज्ञत्वादि-विशिष्ट-चैतन्य, नित्य सिद्ध कोटि का होने से उन सब जन्मों को जानता हूँ।

मुक्त पुरुष यद्यपि सिद्ध कोटि में आते हैं किन्तु वे अनादि सिद्ध नहीं कहाये जा सकते क्योंकि मुक्त होने के पूर्व वे प्रकृति के पाशों में बंधे हुए पशु कोटि के थे। ईश्वर उन पाशों से रहित होने के कारण पशुपति कहलाते हैं। इसी प्रकार प्रकृतिलीन भी सिद्ध कोटि के हैं तथापि वे नित्य सिद्ध नहीं हैं क्योंकि संस्कार के कुछ समय पश्चात् विपाक होने के बाद फिर संसार में प्रवेश कर सकते हैं। इस प्रकार उनकी मुक्त से बन्ध कोटि में आने की सम्भावना बनी रहती है। ईश्वर तो 'सदैव मुक्तः सदैव ईश्वरः अस्ति।' उसका ऐश्वर्य पराकाष्ठा को प्राप्त है। श्रुतियों में इसीलिए कहा है:—

साकाष्ठा सा परागतिः।

अर्थात् ईश्वर ज्ञान, ऐश्वर्य, वैराग्य की पराकाष्ठा है तथा जीवों की परमगति है। वह काल की हद से भी परे है। इसलिए सत् कोटि का है। सिक्ख सम्प्रदाय के लोग उसे 'सत् श्री अकाल' इन विशेषणों से जानते हैं। योग-दर्शन कार भगवान पतंजलि ईश्वर का दूसरा लक्षण करते हैं —

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

योग १।२६

जिसकी हद निर्धारित करने के लिए काल भी उपस्थित नहीं हो सकता। और जो कपिल, कणादि, अंगिरा पूर्व पूर्ववर्ती सिद्धों का भी गुरु है उसका नाम ईश्वर है। व्यास देव जी ने इसीलिए कहा: —

सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धः तथा, अतिक्रान्त सर्गादिषुअपि प्रत्येतव्यः।

अर्थात् सृष्टि के आदि में ज्ञान की पराकाष्ठा होने से वह ईश्वर ही अनादि सिद्ध है। ऐसा समझना चाहिए।

अनादिसिद्धों के बाद महासिद्ध कोटि आती है जो साधना के पहिले ही ईश्वर लाभ प्राप्त कर लेते हैं। उनमें ज्ञान, विवेक, वैराग्य प्रेम, भक्ति, भाव तथा महाभाव सहज अवस्था में रहता है। इसे प्राप्त करने के लिए उन्हें

साधन करने की जरूरत नहीं पड़ती। गीता में जगदात्मा श्री कृष्ण ने ऐसे सिद्धों को योग युक्त कहा है।

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा,
कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्तइत्युच्यते योगी,
समलोष्ठाश्म कांचन ॥

अर्थात् जो ज्ञान, विज्ञान से पूर्ण हो चला है तथा ज्ञान के शिखर पर आरूढ़ है, इन्द्रिय-जयी, मिट्टी, पत्थर और सोने को एक ही समझने वाले योगी को युक्त योगी कहते हैं। ऐसे महासिद्धों के दृष्टि पात से ही जीव का कल्याण हो जाता है। पापी भी पुण्यात्मा बन जाता है। दूर बैठ कर भी अपने संकल्प से साधक के हृदय की कला घुमाने में समर्थ होता है। उनमें अनेक शरीर और चित्त निर्माण की क्षमता होती है। उनका चित्त वासना रहित होने से पाप पुण्य से रहित होता है। इसलिए वे जन्म मरण के आधीन नहीं होते अपितु जन्म-मृत्यु उनके आधीन होती है।

इसके बाद नित्य सिद्धों की कोटि आती है। जो जन्म से ही सिद्ध होते हैं उन्हें नित्य सिद्ध कहते हैं जैसे नारद, शुकदेवादि। उनमें अरणि काष्ठ की तरह सदा ही अग्नि विद्यमान रहती है। जैसे अरणि मंथन से आग पैदा हो जाती है उसी प्रकार नित्य सिद्ध संकल्प मात्र से मन की एकाग्रता और तज्जन्य समाधि लाभ को पा जाते हैं। वे लोक शिक्षा के लिए ईश्वर से लाइसेन्स लेकर प्राणियों के बीच में आते हैं। ईश्वर की प्राप्ति के बाद नित्य सिद्ध लोक शिक्षा के लिए साधन में प्रवृत्त होते हैं। श्री रामकृष्ण परमहंस देव गौरांग चैतन्य, ईसामसीह इसी कोटि के सिद्धपुरुष हैं। राम कृष्ण परमहंस देव कहते हैं कि नित्य सिद्ध कुम्हड़े की बेल की भांति होते हैं जिसमें पहिले फल लगता है बाद में फूल। अर्थात् पहिले उन्हें ईश्वर प्राप्ति होती है बाद में साधना करते हैं। वे ऐसे गुलाबजामुन हैं जो हमेशा रस में पड़े रहते हैं। वे सूर्य के समान प्रकाशित होते हैं जो स्वयं भी चमकते हैं और दूसरों को भी प्रकाशित करते हैं। वे एक ऐसे जहाज की तरह हैं जो खुद भी पार जाता है और बड़े-बड़े हाथियों को भी पार ले जाता है। वेदों में होमा पक्षी का वर्णन आता है। नित्य सिद्ध होमा पक्षी की तरह होते हैं। होमा पक्षी आकाश में बहुत ऊँचे पर रहती है। अंडे देते ही अंडे नीचे गिरते हुए फूट जाते हैं और गिरते-गिरते ही बच्चे के पंख निकल आते हैं और उनकी आँख खुल जाती है। परन्तु जमीन पर गिरकर कहीं चोट न लग जाय इस ख्याल से वे फिर पृथ्वी पर आने से पहले ही सीधे ऊँचे अपनी माँ के पास उड़ने लगते हैं। उनकी अवस्था कभी बालवत् कभी पिशाचवत्, कभी उन्मत्तवत् तथा जड़वत् होती

है। श्वास-प्रश्वास में ॐ नाम के सिवाय और कुछ नहीं होता। सहस्रार चक्र में जाकर उन्हें समाधि होती है। श्री रामकृष्ण परमहंस देव कहते हैं—जो नित्यसिद्ध हैं उन्हें संसार का क्या डर? पौं बारह का खेल है। पासे फेंकने से कुछ और न पड़ जाय यह डर उन्हें फिर नहीं रहता। वे चाहें तो संसार में रहकर कार्य कर सकते हैं। कोई-कोई ज्ञान और कर्म की दो तलवारें भी चला सकते हैं। वे ऐसे खिलाड़ी हैं कि जो हजार साल पानी में पड़ा रहे फिर भी उसकी अग्नि नष्ट नहीं होती। ऐसी सिद्धों में सहज ही शाम्भवी मुद्रा (अर्द्धनिमीलित नेत्र, अन्तर्लक्ष्य बहिर्दृष्टि) रहती है।

इससे भिन्न कोटि के योगी साधन सिद्ध होते हैं। अनेक तपस्या, भजन, जप, तीर्थाटन, यज्ञादि साधनों द्वारा जो कामिनी-कांचन के धक्के खाकर ऋतम्भरा प्रज्ञा की स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं वे उस काठ के टुकड़े की तरह हैं जो स्वयं तो जल पर तैर सकते हैं परन्तु एक पक्षी के वजन को भी सहन नहीं कर सकते। वे मुमुक्षु जीव साधन सिद्ध हो पाते हैं। वे संसार के जाल, से मुक्त होने के लिए जल तक की बाजी लगाकर (शरीर का पातंजलयुद् कार्य या साधनयज्ञ) की धुन से अनवरत परिश्रम करते हैं। नित्य सिद्ध चालाक मछली की तरह हैं जो जाल में फंसती ही नहीं। साधन सिद्ध वे जीव हैं जो जाल से निकल भागते हैं। बद्ध जीव जाल में पड़ी हुई उन मछलियों की तरह हैं जिन्हें होश ही नहीं कि वे जाल में पड़ी हैं।

इन कोटियों के अतिरिक्त सिद्धों की कुछ अन्य श्रेणियां भी हैं। ऐसी कोटियों में सद्य-सिद्ध, कृपासिद्ध तथा स्वप्नसिद्ध हैं। साधु सेवा, श्रद्धा-विश्वास से जिन्हें सिद्धानुग्रह प्राप्त हो जाता है वे कृपा सिद्ध हो जाते हैं जिस प्रकार हजारों वर्ष का अन्धकार प्रकाश पाते ही तत्क्षण हट जाता है उसी प्रकार सिद्धानुग्रह से तत्क्षण साधक के मन के परमाणु बदल जाते हैं। सन्त कबीर, दादू तथा तुलसी आदि को रामानन्द, हनुमान आदि जैसे सिद्धों द्वारा कृपात्व प्राप्त हुआ और तत्क्षण ही उनका त्रिनेत्र खुल गया। जिन्हें पहले आशा नहीं थी किन्तु तत्क्षण वस्तु लाभ हो गया। वे सद्य सिद्ध हैं। कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं कि साधकों ने ईश्वर का अनुग्रह स्वप्न में प्राप्त कर लिया और वे सिद्ध हो गये। ऐसे साधक स्वप्न-सिद्ध कहलाते हैं।

सिद्धों के लक्षण का निदर्शन करते हुए श्रीराम कृष्ण परमहंस कहते हैं कि जैसे आलू, बैंगन सिद्ध (पक) जाने के बाद नरम हो जाते हैं उसी प्रकार सिद्धों का शरीर भी कोमल हो जाता है और अहंकार रहित हो ज्ञान के कारण उनका स्वभाव बालकों जैसा हो जाता है। जैसे कांच की खिड़की से बाहर भीतर का सब नजर आता है, उसी प्रकार सिद्धों को सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त हो जाती है। लालटेन के शीशे की भी भांति लोक व्यवहार के लिए

आत्म चैतन्य के ऊपर शुद्ध सत्व गुण का झीना-झीना आवरणमात्र रहता है अतः वे किसी गुण के वश में नहीं होते। उनमें निश्चयात्मिका बुद्धि का उदय हो जाता है। निश्चयात्मिका बुद्धि का तात्पर्य है जिसने ईश्वर है, और वे सब कुछ कर रहे हैं, यह सब देखा है। सिद्धों का सिद्ध वह है जिसने उनसे बातचीत की है केवल दर्शन ही नहीं। किसी ने पिता के भाव से, किसी ने वात्सल्य भाव से किसी ने मधुर भाव से उनके साथ आलाप किया है। कुछ तो चीनी बन जाते हैं, कुछ चीनी का स्वाद लेते हैं। सिद्धों के कार्य निष्काम कर्म होते हैं। वे पांकाल मछली की भांति संसार रूपी कीचड़ से निर्लिप्त रहते हैं। वे मधुमक्खी की भांति होते हैं जो सदैव ईश्वर चिन्तन, मनन कथन रूपी मधु-संचय के अतिरिक्त संसारी बातों रूपी गन्दगी पर भूलकर कभी नहीं बैठती। सिद्ध प्रकृति के वश में नहीं होते अपितु प्रकृति उनके वश में होती है। यद्यपि अग्नि सर्वत्र है तथापि लकड़ी में वह विशेष रूप से विद्यमान रहती है उसमें भी जलती हुई लकड़ी में प्रकट रूप से रहती है, इसी प्रकार ईश्वर सर्व व्यापक होते हुए भी सिद्धों के हृदय रूपी बैठकखाने में विशेष रूप से रहता है।

मानव-जीवन को कृतकृत्य करने के लिये सिद्धों की संगति पाने की इच्छा करो। सत्संग के बिना शास्त्रों का अर्थ भी स्पष्ट नहीं होता शास्त्रों की सारी बातों का मूर्तरूप सिद्धों के जीवन में प्रत्यक्ष होता है। बिना सिद्धानुकम्पा के मनुष्य विज्ञानी नहीं बन सकता ज्ञानी भले ही बन जाय। आग किस-किस काम आती है इसे जानने का नाम है ज्ञान तथा अग्नि से रोटी दाल पकाकर सन्तुष्टि प्राप्त करने का नाम है विज्ञान। श्रुति भगवती कहती है –

'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा
आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।'

मुण्डकोपनिषद् २/२/७

अर्थात् विज्ञानवान होने से तत्वज्ञानी पुरुष आनन्दरूप, अमृतमय प्रकाशित होने वाले तत्व का सम्यक् साक्षात्कार कर लेते हैं।

❀ तप की महिमा ❀

सारे ऐश्वर्यों का मूल तप है। तप किये बिना किसी को कुछ भी फल प्राप्त नहीं होता। प्रजापति ने तप से ही इस सृष्टि को उत्पन्न किया। ऋषियों को तप से ही वेद प्राप्त हुए। फल फूल अन्न सब कुछ तप से ही प्राप्त किया जाता है तप से ही सिद्ध हुए महात्मा तीनों लोकों का साक्षात्कार करते हैं। औषधियां तथा तीनों विद्यायें तप से ही सिद्ध होती हैं। तप ही मुक्ति का साधन है।

— महाभारत

पंचभूतात्मक सृष्टि

तथा

उसका सृष्टा

श्री ओमप्रकाश, पालीवाल

सृष्टि के पूर्व जब सम्पूर्ण जीवों के अन्तरात्मा परमात्मा के सिवा कुछ भी न था तब यह सृष्टि एकमात्र भगवद्रूप ही थी। सृष्टि के आरम्भ में सर्व प्रथम परमात्मा की चेतना शक्ति की प्रेरणा से शब्द तन्मात्र 'ओइम' का प्रादुर्भाव हुआ जो परमात्मा का बोध कराने वाला शब्द सहित आकाश उत्पन्न हुआ। अत्याचार;तत्वों को अवकाश देना, सबके बाहर भीतर वर्तमान रहना तथा प्राण, इन्द्रिय और मन का आश्रय होना - ये आकाश के कार्य रूप लक्षण है।

तत्पश्चात् निष्क्रिय शान्त 'आकाश' में काल गति से विकार होने पर उससे गत्यात्मक तत्व 'वायु' की उत्पत्ति हुई। सर्वत्र गतिशील होना, गन्धादियुक्त द्रव्य को घ्राणादि इन्द्रियों से तथा शब्द को श्रोत्रेन्द्रिय के पास ले जाना तथा समस्त इन्द्रियों को कार्य शक्ति देना - ये वायु के कार्य रूप लक्षण है।

तदनन्तर वायु के विकृत होने पर संसार के नेत्र रूप तेज या 'अग्नि' की उत्पत्ति हुई। चमकना, पकाना शीत को दूर करना, सुखाना, भूख व प्यास पैदा करना और उनकी निवृत्ति के लिए भोजनादि कराना व पचाना-ये अग्नि के कार्य रूप लक्षण है।

फिर अग्नि व तेज के विकृत होने पर उससे द्रव्य तत्त्व 'जल' की उत्पत्ति हुई। गीला करना, मिट्टी आदि को पिण्डाकार बना देना, तृप्त कर देना, ताप की निवृत्ति करना ये जल के कार्य रूप लक्षण हैं।

इसके पश्चात् रस स्वरूप जल के विकृत होने पर गन्ध-गुणमयी 'पृथ्वी' की उत्पत्ति हुई। दूसरे तत्त्वों की अपेक्षा किये बिना अपने ही आधार स्थित रहना, जलादि अन्य पदार्थों को धारण करना, आकाशादि का अवच्छेदक होना तथा सम्पूर्ण प्राणियों के स्त्रीत्व व पुरुषत्व आदि गुणों को प्रगट करना - ये पृथ्वी के कार्य रूप लक्षण हैं।

उत्पत्ति के बाद ये पाँचों तत्व सृष्टि रचना के लिए उस समय तक निष्क्रिय या अक्षम रहे, जब तक कि स्वयं परमात्मा ने उसमें प्रवेश करके उन्हें सक्रिय नहीं बनाया।

क्षित्यपतेजोमरुद्व्योम (पृथ्वी, जल, अग्नि वायु और आकाश) ईश्वर से ही आविर्भूत हुये हैं या ईश्वर रूप हैं इनके भीतर और

इनसे बाहर नहीं है। ईश्वर ही इनका उपादान करता है। मृत्तिकेत्येव सत्यम्' अर्थात् मृत्ति का ही वास्तविक उपादान कारण है।

उपनिषद के इस सिद्धान्तानुसार पृथ्वी, जल से उत्पन्न होने के कारण जल का ही विकार है अतः वह जल रूप ही है। इसी जल अग्नि के उत्पन्न होने के कारण अग्नि का ही रूपान्तर है अतः वह अग्नि रूप ही है। अग्नि भी वायु से उत्पन्न होने के कारण वायु रूप ही है। वायु आकाश से प्रादुर्भाव होने के कारण आकाश रूप ही हुआ और अन्त में आकाश ईश्वर से उत्पन्न होने के कारण ईश्वर की ही अभिव्यक्ति है अथवा परमात्मा है। इस प्रकार यह क्रमशः पञ्च-महाभूतों का प्रादुर्भाव परमात्मा से हुआ है और प्रलय अवस्था में यह सब उसी परमात्मा में लयता को प्राप्त होते हैं।

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है। वह यह कि जिनविकार के कारण ये तत्त्व क्रमशः उत्पन्न होते गये उनमें से प्रत्येक अपने से पहले उत्पन्न होने वाले तत्त्व की तुलना में स्थूल थे। अर्थात् सूक्ष्मतम् परमात्मा से आकाश स्थूल है; आकाश से वायु स्थूल है; वायु से अग्नि स्थूल है; अग्नि से जल स्थूल है; तथा जल से पृथ्वी स्थूल है।

इसके अतिरिक्त एक बात है "नासतो विद्यते भावः" गीता के अनुसार जो पदार्थ पहले से ही था, वह नये सिरे से उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिए पृथ्वी का पाँचवां गुण गन्ध जो सबके अन्त में है उसे नया मानना चाहिये, अपितु उसका स्थान जल में पहले से ही था। क्योंकि पृथ्वी की उसके गुणों के साथ उत्पत्ति जल से हुई है इसी प्रकार जल के चौथे गुण रस की स्थिति अग्नि में, रूप की वायु में, स्पर्श की आकाश में, और अन्त में शब्द की स्थिति अव्यक्त रूप से परमात्मा में माननी होगी।

सांख्य मत के अनुसार सृष्टि रचना क्रम इस प्रकार है—

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात्पञ्च तन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पंचविंशतिर्गणः।'

अर्थात् सत्व, रज तथा तमोगुण की मिली हुई एक-सी अवस्था को प्रकृति कहते हैं। प्रकृति से महतत्त्व (बुद्धि), महतत्त्व से अहङ्कार अहङ्कार से पाँच तन्मात्रा अर्थात् सूक्ष्म महाभूत, पाँचों तन्मात्राओं से दश इन्द्रिय, ग्यारहवाँ मन तथा पाँचों स्थूल महाभूत—यह चौबीस और पच्चीसवाँ पुरुष अर्थात् जीवात्मा है। इनमें प्रकृति किसी का कार्य नहीं, केवल कारण है। इसलिए वह प्रकृति है, विकृत नहीं। 'कारण' को प्रकृति कहते हैं और कार्य को 'विकृत' कहते हैं। महातत्त्व, अहङ्कार और पंच तन्मात्रा—ये सातों (प्रकृति) तथा (विकृति) है और शेष इन्द्रियादि सोलह तत्व केवल 'विकृत' मात्र है, पुरुष

न तो किसी का कारण है और न किसी का कार्य ही है। पुरुष के प्रकाश से प्रकृति। प्रकृति से महत् तत्व, महत् तत्त्व से अहंकार, अहंकार से शब्द रहित आकाश और आकाश से २ - वायु उत्पन्न हुई। वायु में दो गुण है स्पर्श तो उसमें अपना गुण है और शब्द आकाश का गुण है। वायु से ३—तेज उत्पन्न हुआ। तेज में तीन गुण हैं—उसका अपना गुण तो रूप है, शब्द आकाश का तथा स्पर्श वायु का गुण है। तेज से ४ जल उत्पन्न हुआ। जल में चार गुण है अपना गुण तो रस है, आकाश का शब्द, वायु का स्पर्श तथा रूप तेज अर्थात् अग्नि का गुण है जल से ५ पृथ्वी उत्पन्न हुई। पृथ्वी में पाँच गुण है—पृथ्वी का अपना गुण तो गन्ध है, शब्द का, स्पर्श वायु का, रूप, अग्नि का तथा रस जल का गुण है।

आकाश में प्रति ध्वनिरूप शब्द है।

वायु में 'सीं-सीं' शब्द उष्ण-शीत, तथा कठिन से विलक्षण स्पर्श है। ३ तेज में 'भुग-भुग्' शब्द, उष्ण स्पर्श तथा प्रकाश रूप है। ४ जल में 'चुल-चुल' शब्द, शीत स्पर्श, शुक्ल रूप तथा मधुर रस है। (जल जो खारा कडुवा मालूम होता है वह पृथ्वी के मेल से होता है) वास्तव में जल का स्वाद तो मीठा है। ५ पृथ्वी में 'कट कट' शब्द है, उष्ण शीत से विलक्षण कठिन स्पर्श है श्वेत नील पीत, रक्त तथा हेर आदि रूप है, मीठा, खट्टा कडुवा कसैला तथा चरपरा रस है, सुगन्ध और दुर्गन्ध दो प्रकार की गन्ध है। इस प्रकार से आकाश में एक वायु में दो, तेज में में तीन, जल में चार तथा पृथ्वी में पाँच गुण हैं। इनमें एक एक अपना तथा शेष गुण कारण के हैं।

अपञ्चीकृत पञ्च सूक्ष्म महाभूतों के मिले हुए सत्व गुण से अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि चित्त और अहङ्कार की उत्पत्ति हुई। अपञ्चीकृत पञ्च सूक्ष्म महाभूतों के पृथक-पृथक सत्त्व गुणों से ज्ञानेन्द्रियाँ अर्थात् श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण की उत्पत्ति हुई। श्रोत्र की आकाश से, त्वचा की वायु से चक्षु की तेज से, जिह्वा की जल से तथा घ्राण की पृथ्वी के सत्व गुण से उत्पत्ति हुई। यह पाँचों इन्द्रिय ज्ञान की साधना हैं, इसलिए इनको ज्ञानेन्द्रिय कहते है ज्ञान सत्त्व गुण से होता है, अतः इनकी उत्पत्ति भूतों के सत्त्व गुण से हुई है। श्रोत्र, आकाश के 'शब्द' गुण को ग्रहण करता है, अतः श्रोत्र की उत्पत्ति आकाश के सत्त्व गुण से है। ऐसे ही जो इन्द्रिय जिस भूत के गुण को ग्रहण करती है, उस इन्द्रिय की उत्पत्ति उसी भूत के सत्व गुण हुई है।

भूतों के मिले हुए रजोगुण—अंश से प्राणों की उत्पत्ति हुई है। स्थान तथा भेद से प्राण पाँच प्रकार का हो जाता है—१ जिसका स्थान हृदय तथा क्रिया भूख प्यास है, उसको 'प्राण' कहते हैं। २—जिसका स्थान गुदा और क्रिया मल-मूत्र उतारना है, उसको 'अपान' कहते हैं। ३—जिसका स्थान

भूख प्यास है, उसको 'प्राण' कहते हैं। २-जिसका स्थान गुदा और क्रिया मल-मूत्र उतारना है उसको 'अपान' कहते हैं। ३-जिसका स्थान नाभि और क्रिया खाये पिये अन्नोदक को पचने योग्य सम करना है; उसको 'समान' कहते हैं। ४ जिसका स्थान कण्ठ और क्रिया खाये-पिये अन्नोदक को पृथक करना तथा श्वांस है, उसको 'उदान' कहते हैं। ५ जिसका स्थान सर्व शरीर तथा क्रिया सम्मेलन है, उसको 'व्यान' कहते हैं। प्राण चञ्चल हैं, चञ्चल स्वभाव रजोगुण का है। भूतों के रजोगुण अंश से प्राण की उत्पत्ति हुई है।

सूक्ष्म भूतों के पृथक-पृथक रजोगुण अंश से पांच कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति हुई है। वाक् की आकाश से, हाथ की वायु से, पाद की अग्नि से, उपस्थ की जल से गुदा की पृथ्वी से उत्पत्ति हुई है। यह पांचों इन्द्रियां क्रिया की साधने वाली हैं। क्रिया रजोगुण से होती है अतः इनकी उत्पत्ति भूतों के रजोगुण अंश से हुई है।

उपरोक्त पञ्च ज्ञानेन्द्रिय तथा अन्तःकरण चतुष्टय, इनको 'अध्यात्म' कहते हैं क्योंकि ये आत्मा के आश्रय हैं। पञ्चभूतों के सत्वगुण अंश से दिशा वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, वामन प्रजापति, यम, चन्द्रमा, ब्रह्मा, वासुदेव तथा रुद्र—ये चौदह देवता उत्पन्न हुए। ये इन्द्रियों के देवता हैं, इनको अधिदेव कहते हैं। जो अपने शरीर से पृथक और चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय न हो अर्थात् इन्द्रियों से न जाना जा सके, उसको अधिदेव कहते हैं।

भूतों के तमोगुण अंश से इन्द्रियों के विषय उत्पन्न हुए। उन विषयों को 'अधिभूत' कहते हैं जो अपने शरीर से पृथक हो तथा चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय हो अर्थात् इन्द्रियों से जाना जावे, उसको अधिभूत, इन तीनों के बिना कोई क्रिया नहीं होती। जैसे नेत्र (अध्यात्म) भी है और देखने का विषय अर्थात् वस्तु (अधिभूत) भी है, परन्तु सूर्य (अधिदेव) के बिना नेत्र नहीं देख सकते। ऐसे ही सूर्य (अधिदेव) भी है और देखने योग्य वस्तु (अधिभूत) भी है, परन्तु नेत्र (अध्यात्म) नहीं है, तो भी नहीं देख सकते। ऐसे ही चक्षु इन्द्रिय भी है और सूर्य भी, परन्तु देखने का विषय (अधिभूत) नहीं है, तो भी नहीं देख सकते। मूल यह है कि बिना इन तीनों के संयोग के कोई ज्ञान या नहीं हो सकती।

अपञ्चीकृत भूत तथा उसके कार्य अन्तःकरण प्राण, कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रियों को 'सूक्ष्म सृष्टि' कहते हैं। इस सूक्ष्म सृष्टि का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं होता। नेत्र तथा नासिका आदि के गोलकों (रहने के स्थान) को तो इन्द्रिय देख सकती है, परन्तु गोलकों में रहने वाली सूक्ष्म इन्द्रियों को नेत्रादि इन्द्रिय विषय नहीं कर सकती।

सूक्ष्म सृष्टि के पश्चात् स्थूल सृष्टि के लिए भूतों का पञ्चीकरण इस प्रकार हुआ। एक-एक भूत के दो-दो समान भाग हुए। आधा-आधा भाग तो सब भूतों ने अपने पास रक्खा, शेष आधे-आधे भाग के समान

चार-चार भाग करके दूसरे चारों भूतों में बड़ गए। इस प्रकार हर एक भूत में आधा भाग तो अपना और आधा भाग अपने से इधर चारों भूतों को मिला। उदाहरण के लिए आकाश का अर्ध भाग तो पृथक रहा और अर्ध भाग के समान चार भाग हुए। उसमें से एक भाग वायु को, एक भाग अग्नि को, एक भाग जल को तथा एक भाग पृथ्वी को दे दिया। इसी प्रकार अन्य का भी विभाजन हुआ है।

इस प्रकार पञ्चीकृत भूतों से स्थूल सृष्टि रचना हुई। उस सृष्टि में भूलोक, भुवलोक, स्वर्लोक, महर्लोक जनलोक, तपलोक तथा सत्यलोक- यह सातों भवन ऊपर के हुए और अतल, पाताल, वितल, रसातल, तलातल तथा महातल—यह सात लोक नीचे के हुए। इन चौदह लोकों में जीवों के भोगने योग्य अन्नोदक तथा भोगने के साधन, देव, मनुष्य तथा पशु, पक्षी आदि के स्थूल शरीर बने।

पञ्च तत्वों से मानव शरीर रचना इस प्रकार हुई।

१ आकाश तथा उसका कार्य इसके पाँच कार्य है- काम क्रोध मोह, शोक तथा भय।

२—वायु तथा उसके कार्य—चलना, बल, धावन, प्रसारण तथा आकुञ्चन।

३—तेज के कार्य - भूख, प्यास, आलस्य, निद्रा तथा कान्ति।

४—जल तथा उसके कार्य—वीर्य, रुधिर, लार, मूत्र तथा पसीना।

५—पृथ्वी तथा उसके कार्य—अस्थि, मांस, नाड़ी, त्वचा और रोम है।

उपरोक्त २५ तत्वों से निर्मित स्थूल शरीर है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पांच प्राण, पांच कर्मेन्द्रिय, मन तथा बुद्धि—इन सत्तरह से सूक्ष्म शरीर निर्मित है। इन दोनों के कारण (अज्ञान) को कारण शरीर कहते है। इन ही तीनों शरीरों में पाँच कोश है। कारण शरीर को आनन्दमय कोश। विज्ञान मय कोश, मनोमय, तथा प्राणमय—यह तीनों कोश सूक्ष्म शरीर में हैं और स्थूल शरीर को अन्न-मय कोश कहते है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहते है। पाँचों ज्ञाने-न्द्रिय तथा मन को मनोमय कोश कहते है। पाँच प्राण तथा पाँच कर्मेन्द्रिय को प्राणमय कोश कहते हैं।

सांख्य दर्शन के अनुसार 'सत्व रजस्तमसा साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेमहान्' इत्यादि। सत्व, रजस, और तमस की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। जब ये गुण परिणाम् रूप विषमता को छोड़कर समान भाव को प्राप्त होते हैं इनकी इसी सम्भावना का नाम ही प्रकृति है साम्यावस्था का मतलब है कि जब ये तीनों पदार्थ प्रलयकाल की अवस्था में स्थूल रूप से परिणत होकर सूक्ष्म रूप में अपने कारण प्रकृति में जाकर ठहर जाते ह

तब कारण रूप ही रूप हो जाते हैं। अतः प्रकृति तीनों सत्व, रज और तम से भिन्न ही कारण रूप है और ये तीनों गुण उसके कार्य या विकृति है।

इन तीनों गुणों की महिमा व परम्परा है उस सर्वशक्तिमान परमात्मा ने इन तीनों गुणों के बटवारे से ही करोड़ों, अण्ड, ब्रह्माण्ड की रचना कर डाली। यही गुण कहो, दिव्य गन्ध, दिव्य रस दिव्य रूप, दिव्य स्पर्श एवं कहीं पर दिव्य आकाश के रूप में व्यवहृत हुए हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार रूप अन्तः करण के अन्दर काम करने वाले यही गुण है जो पुरुष (जीवात्मा) को अपना रूप दिखाकर उसके पुरुषत्व से भुलाये रहते हैं। ये ही तीनों गुण प्राणियों को भोग और मोक्ष प्रदान करते हैं। रजोगुण मनुष्य को आगामी दूसरा जन्म मनुष्य का ही प्राप्त हो, इस प्रकार के कर्मों संग्रह करता है। तमोगुण भोग यौनि—पशु, पक्षी जन्तु इत्यादि का शरीर प्राप्त हो इस प्रकार के कर्मों का संग्रह करता है। सत्व गुण 'देवयोनि' मोक्ष या मुक्ति प्राप्त हो' इस प्रकार के कर्मों का संचय करता है। वास्तव में जीवात्मा के बन्धन का हेतु ये ही गुण है, दुख, सुख, क्लेश के यही हेतु हैं योगी जन इन्हीं गुणों की ममता को त्यागकर इनसे उपराम होकर मानव-जीवन के लक्ष्य को पूरा करते है।

भगवान् पतंजलि जी ने इन गुणों का वर्णन इस प्रकार किया है—"प्रकाश क्रिया स्थिति-शील भूतेन्द्रियात्मक भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।

अर्थात् प्रकाश शील सतोगुण का धर्म प्रकाश है। जो मन और बुद्धि के अन्दर विकास किया करता है। जीवात्मा को यह गुण अपवर्ग की ओर खींचता रहता है। रजोगुण क्रियाशील है इससे हर पदार्थ में क्रिया होती रहती है। यह गुण जीवात्मा की प्रवृति संसार की ओर करता रहता है। तमोगुण स्थितिशील है, अर्थात् जड़ता स्थिरता या जड़त्व का दाता है। इस गुण से युक्त जीवात्मा जड़ धर्मी होकर न तो संसार में ही प्रवृत्त होता है और न अपवर्ग की ओर जा सकता है। यह 'तीनों की गुण रूप विकृति' ब्रह्माण्ड भरके नाना प्रकार के नजारे इन तीनों गुणों का ही परिणाम है।

आत्मा एक निर्मल ज्योति है, बुद्धि सत्व गुणात्मक होने के कारण वह है जिस समय आत्मा ने बुद्धि को चेतना प्रदान की, तो प्रति उत्तर में बुद्धि ने भी अपना गुण धर्म जड़ता, सुख या दुख आत्मा को सौंप दिया जिसके फलस्वरूप आत्मा बुद्धि के गुण धर्मों को अपने में आरोपित करके अपने को, सुखी, दुखी आदि समझने लगा, इसी का नाम भोग है।

आत्मा को बौद्ध य बोध कराने वाली बुद्धि जब योग साधना द्वारा आत्माकार हो जाती है अर्थात् ध्यान धारणा के अभ्यास से वही आत्माकार वृत्ति बन जाती है इसी को योगी जन अस्मि प्रत्यय कहते हैं।

सत्यं·शिवं·सुन्दरम्

[श्री वनवासी]

प्रयाग राज के ऐतिहासिक माघ मेले में श्री सिद्ध गुफा योग–प्रशिक्षण केन्द्र का शिविर प्रायः प्रतिवर्ष ही श्री गुरुदेवजी की आज्ञानुसार लगाया जाता है।

× × ×

श्री गुरुदेवजी स्वयं इस शिविर में कुछ काल तक निवास करके योग प्रचार सम्बन्धी विविध कार्यक्रमों का संचालन करते हैं।

× × ×

वे भाग्यशाली ही कहे जायेंगे जिन्हें तीर्थराज प्रयाग के योग प्रचार शिविर में श्री गुरुदेवजी के साथ उनके सान्निध्य और निवास का सुयोग प्राप्त हो पाता है। और इनसे भी अधिक भाग्यशाली वे कहे जा सकते हैं जिन्हें उषाकालीन वेला में अपने गुरुदेवजी के साथ संगम स्नान का लाभ प्राप्त होता है।

× × ×

इन पंक्तियों के लेखक को भी यह सौभाग्य अब से दो वर्ष पूर्व प्राप्त हुआ था। माघ मेला योग प्रचार शिविर में वह श्री गुरुदेवजी के साथ अन्य कुछ गुरुदेव भाई बहनों के साथ संगम स्नान का परम पवित्र सुयोग भी पा सका।

+ + +

श्री गुरुदेव के साथ संगम स्नान का लाभ लेने वाले भाई-बहन जब संगम के मनोरम दृश्य का आनन्द ले रहे थे तब मेरे चिन्तन की परिधि में थी यमुना की समर्पित भावना।

+ + +

जब तक सूर्यतनया अपने पृथक अस्तित्व का परित्याग करके अपने को पूर्णतया भगवती भागीरथी के समर्पित नहीं करती तब तक उसका नाम रूप सभी अलगाव की स्थिति में यहाँ स्पष्ट रहता है। लेकिन–

+ + +

जब दोनों मिलि एक बरन–भई सुरसरि नाम परयो। जब पूर्णतया यमुना ने अपने को गंगा की गोद में समर्पित कर दिया तो वह पाप नाशिनी गंगा बनकर ही प्रसिद्ध होगई।

+ + +

श्री गुरुदेव ने कहा क्या तुम भी प्रभु से मिलने के लिए समर्पण कीदृश भावना को क्रियात्मक रूप देने को प्रस्तुत हो। यदि यह कर सके तो निश्चय ही तुम्हारा जीवन सफल होगा।

सन्त के साथ कुछ क्षण

[श्री डा० जगन्नाथ पाठक आचार्य, एम. ए. पी. एच. डी दिल्ली]

—०+०—

संसार में अणुपरमाणु से लेकर शक्ति पुंज, स्थूलकाय, ज्ञान, ऐश्वर्य वैराग्य सम्पन्न महापुरुषों के दर्शन होते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में घोषित किया है कि संसार में जो भी विभूति, ऐश्वर्य, ज्ञान, एवं शक्तिमान वस्तुएं हैं वे सब ईश्वर की योग विभूतियाँ हैं। योगनिष्ठ संत महात्माओं के दर्शन से मन में पवित्रता, आनन्द एवं प्रकाश का संचार होता है। जैसे गंगा के पास पहुँचते ही शरीर और मन का सन्ताप शान्त होकर हृदय आनन्द से भर जाता है वैसे ही योग निष्ठ सन्त के दर्शन से मल, विक्षेप और आवरण उसी प्रकार हट जाते है जैसे सूर्य के प्रकाशित होते ही कुहरा हट जाता है। जीवन में जब पुण्यों की राशि घनीभूत हो जाती है उस समय प्रारब्धवश मन सन्तों के पावन चरणों की ओर आकर्षित होता है। जीवन की उस पावन घड़ी का स्मरण कर आज भी मेरा मन पुलकि हो उठता है जब मुझे एक योग-निष्ठ सन्त के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वह थे--

श्री कृष्ण बिहारी उपाध्याय

वयोवृद्ध आदरणीय पण्डित श्री उपाध्याय जी से मेरी भेंट सहसराम, में उन्हीं के नवनिर्मित भवन में गत वर्ष हुई। जब हम दो-चार आदमी उनसे मिलने के उद्देश्य से पहुँचे तब वे ब्लडप्रेशर के कारण कुछ अस्वस्थ प्रतीत हुए। मेरा उनके प्रति प्रथम आकर्षण इसी प्रथम भेंट मे तब हुआ जब उन्होंने स्वामी प्रत्यगात्मानन्द जी द्वारा लिखित बंगला 'जप-सूत्रम्' के सभी भागों को हमारे समक्ष रखा और जब मेरे साथियों ने मेरा परिचय देते हुए उन्हें बताया कि इसी ग्रन्थ के एक भाग को मैंने हिन्दी में प्रस्तुत होने में योगदान दिया है, तब मैं और श्री युत उपाध्याय जी समान रूप से एक दूसरे के प्रति आकृष्ट हुए।

एक सम्पन्न परिवार में जन्म। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में बहुत पहले ही संस्कृति विषय से एम. ए. उत्तीर्ण। शाहाबाद जिले के कोआथ ग्राम में एक उच्च विद्यालय के प्रधानाध्यापक और बाद में डिहरी आन सोन डालमिया नगर में सम्भवतः लेबर आफिसर के पद पर बहुत समय तक कार्य और 'बाहु-प्रतापार्जित' विशाल भू सम्पदा और समुन्नत

एवं सुगठित परिवार स्वस्थ किन्तु वृद्ध शरीर सुन्दर विशाल भवन। ये सब उपाध्याय जी की बाह्य उपलब्धियाँ हैं जो सहज ही उनकी महती कर्मनिष्ठा और कर्तव्य परायणता को सूचित करती हैं।

इतना होने के बावजूद जो उनकी आध्यात्मिका उपलब्धियाँ हैं वे किसी अंश में निर्दिष्ट बाह्य उपलब्धियों से कुछ कम नहीं है। उनके प्रगाढ़ अध्ययन और निरन्तर चिन्तन मनन ने उसमें और भी रंग उभारा है, किन्तु वह रंग जितना भीतर से गाढ़ा है उतना ही बाहर से फीका है और इसी कारण सामान्य दृष्टिकोण के लोग उन्हें ठीक ठीक पहचान पाने में भूल कर जाते होंगे। मैं उन्हें ठीक समझ सका हूं ऐसा कुछ दावा नहीं कर सकता।

श्री उपाध्यायजी के पास प्रवर्तमान युग का भी अनुभव कुछ साधारण नहीं। जीवन में सब प्रकार के लोगों से उनका सम्पर्क रहा है और इस प्रकार वे अपने अनुभव की पूंजी मात्र से ही हमारे लिए विशेष उपयोगी हैं।

उन्होंने बातचीत के प्रसंग में अपने महत्वान समय का जो कुछ अंश दिया है उसका कोई हमारे पास प्रतिदान नहीं है। हम प्रस्तुत लेख में श्री उपाध्यायजी के विचारों और अपने पर उनके प्रभाव की विशेष चर्चा करेंगे।

श्री उपाध्याय जी ने ऐसे कई लोगों की चर्चा की है जिनसे काशी में उन्हें आध्यात्मिक प्रेरणा मिलती है। एक बार एक ऐसे फकीर से उनकी काशी में भेंट हुई जो अपनी झोली में प्राप्त बहुत सारी मिठाइयों को क्रमशः उनमें नाना प्रकार के दोष-गुण का बखान करके गंगा में फेंकने में प्रवृत्त था और अन्त में उसने जिसे खाया उसे भी पानी में भिगोकर स्वाद पर ऐसी विजय कुछ साधारण उपलब्धि नहीं। उस फकीर ने बहुत पीछा करने पर उपाध्याय जी को बताया था कि उन्हें चालीस वर्ष बाद 'गुरु' प्राप्त होंगे। एक दूसरे हिन्दू फकीर उन्हें मिले जो गरम चूल्हे में सोया करता था और दूकानों पर चाय मांगा करता था। श्री उपाध्याय जी ने एक ऐसे योगी की भी चर्चा की कि जिसने उन्हें कई चमत्कार प्रदर्शित किये थे, एक उंगली मात्र से भारी रोलर को नीचे गिराकर दिखाना आदि।

उपाध्यायजी के आध्यात्मिक जीवन पर सम्भवतः सबसे अधिक प्रभाव डालने वाले बक्सर के सुप्रसिद्ध फक्कड़ सन्त (सम्प्रति-ब्रह्मलीन) खाकी बाबा थे। उपाध्याय जी ने खाकी बाबा के त्याग और तप के सम्बन्ध में कई बार चर्चा की है और उनके कई चमत्कार भी सुनाये हैं। मैंने आरा की एक सभा में प्रथम बार और अन्तिम बार बीड़ी पीते हुए और अजीब ढंग से भाषण करते हुए सन्त खाकी बाबा के दर्शन किये थे जब

मैं अपनी बाह्य बुद्धि के कारण उनकी ओर उपेक्षा की दृष्टि से ग्रस्त हो गया। बाबी बाबा ने उपाध्याय जी को हनुमान चालीसा की ओर मोड़ा जिसे मैं बहुत उपेक्षा बुद्धि से देखता था और बहुत बार तो मैंने उसका उपहास भी किया था, किन्तु उपाध्याय जी के सम्पर्क में आने पर उसकी गरिमा का भान हुआ और लगा कि श्री हनुमान जी की कृपा के लिए हमें भी कुछ करना चाहिए। क्योंकि उनकी कृपा के अभाव में राम तक पहुँचना किसी प्रकार सम्भव नहीं, क्योंकि राम का रसायन उन्हीं के पास है। इतना ही नहीं, वे ज्ञान गुण सागर हैं उपाध्याय जी के अनुसार यह स्थिति अत्यन्त गहन और मानव क्षमता से परे है। हनुमान की कृपा के लिए उपाध्याय जी का निर्दिष्ट महामन्त्र है। जै जै हनुमान गुसाईं। कृपा करहु गुरुदेव की नाईं।

उपाध्याय जी का यह स्वानुभव है कि बिना आन्तरिक 'तप' के सिद्धि प्राप्त नहीं होती। इसके लिए गुरु के चरण रज की उपासना अथवा ध्यान अनिवार्य है, क्योंकि गुसाईं जी के शब्दों में—'श्री गुरु पदनख मणि-गण ज्योती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती।' यहाँ प्रयुक्त 'सुमिरत' शब्द पर वे अधिक बल देते हैं, जैसे 'जेहि सुमिरत सिधि होय।' उन्होंने इसी प्रसंग में गोस्वामी जी के इस प्रसिद्ध दोहे की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया था :—

श्री गुरु चरन सरोजरज,
निजमन मुकुर सुधारि।
बरनौं रघुवर बिमल जस,
जो दायक फल चारि॥

वे कहते हैं 'रज, सरोज, चरन, गुरु, श्री इस क्रम से उपासना में प्रगति करनी चाहिए। आन्तरिक 'तड़प' वाली बात सभी प्रकार की निरन्तर साधना के लिए अनिवार्य है। उपाध्याय जी के अनुसार सन्देह-ग्रस्त होकर प्रवृत्त होना चाहिए और अपने पुरुषार्थ पर अवलम्बित होना चाहिए। गीता कहती है 'पौरुषं नृषु'। इसी प्रसंग में उन्होंने बताया था—'सर्वा श्रयाणां परित्यागः, तस्मिं अनन्यता तद् विरोधिषु उदासीनता तद भावे परम व्याकुलता'। दशरथ जी का विलाप है—

हा रघुनन्दन प्रेम पिरीते।
तुम बिन जियत बहुत दिन बीते॥

इस आन्तरिक तड़प के पीछे हमें अपनी श्रद्धा और विश्वास के आधार को पूर्ण तथा दृढ़ करना होगा—यहाँ तक कि—

त्यज धर्ममधर्मं च,
उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा,
येन त्यजसि तत्त्यज॥

ईशावास्यो पनिषद् के आरम्भिक वचनों के आधार पर उन्होंने क्रम इस प्रकार बनाया था १. अपने संसार में ईश्वर को बसाना, २. तेन त्यक्तेन भुंजी था। ३. मा गृधः कस्य

स्विद्धनम्, ४. कुर्वन्नेवेह कर्माणि और ५. जिजीविषेच्छतं समाः। यह निश्चय ही उनका स्वानुभूत सत्य है जिस पर चल कर उन्होंने ने अपने अन्तरबाह्य को एक विलक्षण आलोक से भर दिया है। वे कहते हैं कि ज्ञान और इच्छा श्रद्धा है और विश्वास है क्रिया। इन्हीं तीनों (या दोनों) के योग से आध्यात्मिक जीवन में गतिशीलता प्राप्त होती है सन्देह की अवस्था से विपरीत है सन्दोह की स्थिति, जो पूर्णावस्था है। इसी क्रम में उन्होंने 'ॐ' तत् सत् को बताया कि सत् को तत् में फिर तत् को ॐ में प्रवेश करना होता है।

सबसे पहली अपेक्षा है आध्यात्मिक प्रगति के लिए एक गुरु और एक देवता में आस्था की। हमारा मन या चित्त नाना प्रकार के मलों से आक्रान्त है, हम जब तक उस मुकुर को पूर्णतया स्वच्छ नहीं कर लेते तब तक परमात्मा का प्रकाश उसमें संक्रान्त नहीं हो सकता।

आध्यात्मिक पथ के पथिक के लिए एकान्त का सेवन आवश्यक है जो उपाध्याय जी के अनुसार मन का बुद्धि का और प्रत्येक इन्द्रिय का होता है। साथ ही धृति, क्षमा दम, अस्तेय शौच, इन्द्रिय, निग्रह धी, विद्या, सत्य,अक्रोध, इन दस धर्मों का भी पालन होना चाहिए।

'तड़प' की दिशा में प्रवृत्ति के लिए प्रायः उपाध्याय जी ने रुदन पर जोर दिया है। उन्होंने अपने श्री मुख से अपने रुदन की कई स्थितियों का जिक्र भी किया है। यह एक विचित्र अभ्यास है। मैं स्वयं थोड़ा उसका अभ्यस्त हूँ, किन्तु गलदश्रु भावुकता वाली अवस्था जो किसी-किसी के सहज सिद्ध होती है, मुझे प्राप्त नहीं है। मेरे ख्याल में हृदय की आर्ति को अपने नियन्ता तक एकान्त में पहुँचाने के लिए रुदन से बढ़कर कोई अच्छा उपाय नहीं। जो भी हो उपाध्याय जी तो एकबार करमा बाई का चरित्र वर्णन करते हुए मुक्तकंठ से रो पड़े थे। मैं भी गद्‌गद कण्ठ हो गया था।

एक दिन श्री उपाध्याय जी की इच्छा जान कर मैं अपने स्थानीय निकट परिचय के दो एक मुसलमान सज्जनों को उनके समीप ले गया। उन्होंने बातचीत में जिस प्रशस्त उर्दू का प्रयोग किया वह आश्चर्यजनक था। किसी भी मिलने वाले को चरण छू कर प्रणि-पात करने का उन्हें अभ्यास हो चुका है। हम साधारणतः अभिमान ग्रस्त होने की स्थिति में ऐसा नहीं कर पाते। यह उनके लिए बिल-कुल सहज हो चुका है।

उपाध्याय जी की नाना विशिष्टताओं में जो विशेष विचारणीय है वह है अनुपस्थित विषय को भी केवल शब्द के आधार पर प्रत्यक्ष कर लेना। मैंने प्रसंगतः वाराणसी की प्रेमलता जी की चर्चा की और तत्काल उपा-ध्याय जी ने कोने की ओर इशारा करते हुए कहा कि उन्होंने (प्रेमलता जी ने) अभी अभी उन्हें (उपाध्याय को) दर्शन दिया है।

इस प्रकार वे शरीर से निकल कर चलने का भी अभ्यास करते हैं और कुछ दूर क्या उनके अनुसार महीनों तक उन्होंने कुबेर के उद्यान की सैर किया है। उन्होंने थोड़ा इस प्रक्रिया का निर्देश भी किया था किन्तु हम जैसे सन्देहग्रस्त के लिए वह दूर की बात लगी।

वे प्रायः शब्दों को लेकर आध्यात्मिक चर्चा करते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक शब्द पर ध्यान देना चाहिए और उसमें निहित महत्व पूर्ण अर्थ को ढूंढने का प्रयत्न करना चाहिए। साधना की एक ऐसी भी अवस्था है जहां साधक शब्द की खोल से अर्थ को बाहर करके देखने लगता है अर्थात् शब्द परदों की तरह अर्थ पर से उघड़ जाता है। उन्होंने किसी भी ग्रन्थ को पढ़ते हुए उसके विषय का प्रत्यक्ष करने अर्थात् शब्द के खोल से बाहर करके देखने का बहुत कुछ अभ्यास कर लिया है।

मैं अपनी सीमा में जिस बात को ग्रहण करने के लिए अपने को तत्काल तत्पर कर सका हूं वह है संकल्प शक्ति की दृढ़ता। उपाध्याय जी शिथिलता को बहुत बड़ा बाधा मानते हैं। उनके अनुसार हमारा प्राप्तव्य (लक्ष्य) हमारे सामने स्पष्ट होना चाहिए। इसी प्रसंग में उन्होंने कहा था कि उन्हें यह स्वीकार नहीं, जैसा कि लोग कहते हैं—जाहि विधि राखे राम ताही विधि रहिए। यह कथन उनकी आभ्यन्तर अद्भुत दृढ़ संकल्प शक्ति का परिचायक है। भगवान ने गीता में ठीक यही कहा है—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं,
नात्मानमवसादयेत् ।

जिस दिन मैंने दो एक अपने परिचित मुसलमान सज्जनों को मिलाया था। और एक सज्जन ने उनके कमरे में नमाज पढ़ी थी उसी दिन रात्रि में उपाध्याय जी ने किसी फकीर को गाना गाते हुए यह गजल पढ़ने की स्थिति में देखा और सुना

जब हाथ में मेरे जाम आया,
उस वक्त हुआ वे खुद इतना।
मैं उनकी सूरत तकता रहता,
मैं गिरती रही पैमाने से ॥
करना है मुकम्मिल मुझको,
अभी अफसाने एश्नोइश्क अगर।
ले शमए वफा से खामोशी,
ले सोजे निहां परवाने से ॥

एक दिन मैं ने एक स्थानीय सिख सज्जन को लाकर उनसे भेंट करायी। और एक दिन मेरा बहुत समय उपाध्याय जी के साथ एकान्त बातचीत में गुजरा। प्रसंगतः ब्रह्मसूत्रम् की मैंने कुछ पंक्तियां पढ़ी, जिनमें श्रद्धा विद्या, और उपनिषत् के विषय में अपने ढंग से विचार किया गया था उपाध्याय जी ने कहा, जो कुछ आश्चर्य जनक घटित हो जाता है वह या तो मन की या मस्तिष्क की विकृति हो सकती है। मन ही सबका आश्रय है और उसे ही यथा सम्भव निर्मल रखने की आवश्यकता है। मन की क्षमता एवं शक्ति की

कोई सीमा नहीं। इस दिन उपाध्याय जी ने कोवाय में अपने साथ घटित विस्तृत कथा सुनाई। उस कथा से उनकी निर्भीकता सिद्ध होती है।

एक बार मैं कुछ अस्वस्थ स्थिति में उनकी बातें सुन रहा था और सुनते-सुनते बे—होश हो गया। उपाध्याय जी के अनुसार उन्होंने मुझ पर 'प्रयोग' किया था, किन्तु मैंने ऐसा कुछ विशेष अनुभव नहीं किया। इधर उपाध्याय जी ने कहा कि अब वे श्री हनुमान चालीसा को समझ सके हैं। अब उनकी सारी शंकायें मिट गयी हैं। उन्होंने कहा 'प्राण की गति के साथ मन की गति को मिला कर हमें ऊर्ध्व लोक की यात्रा करनी चाहिए और वृक्ष वनस्पति के मूल में प्रवाहित होने वाले रस तत्व के साथ अपने को मिला कर ऊपर उठाना चाहिए।

उन्होंने अपना अनुभव निर्देश करते हुए मुझे सुझाया था कि मुझे एक ही विषय पर खूब अच्छी तरह से अध्ययन चिन्तन करना चाहिए। बहुत फैलाव में जाने से अपनी शक्ति क्षीण होती है और काम पूरा नहीं होता। निश्चय ही मैं अपने को बहुत ज्यादा फैला देता हूँ और सीमा से अधिक जाने पर परेशान होकर रह जाता हूँ।

कभी भी उन्होंने मुझे निराश नहीं किया है और न निराश होने का समर्थन किया है। भारतीय चिन्तन में नैराश्य का कोई स्थान नहीं। मैं अपनी सीमा से कुछ परिचित हूँ और जानता हूँ कि ऊपर की पंक्तियों में उपाध्याय जी के विशाल व्यक्तित्व के अन्तर्बाह्य को जो कुछ शाब्दिक अभिव्यक्ति का प्रयास किया जा सका है वह अत्यन्त संक्षिप्त और सीमित ही है। उनके ज्ञान-गम्भीर आध्यात्मिक चिन्तन की गहराई—अन्तः प्रवेश प्राप्त करने की क्षमता मुझ में नहीं है। मैं अपनी सीमा में अब तक केवल इतना ही सीख सका हूँ कि आदमी को सार्थकता के लिए पूर्ण दृढ़ संकल्प शक्ति के साथ प्रवृत्त होना चाहिए और मैं इस अंश में इधर बहुत कुछ सम्हल सका हूँ।

मेरा अपना क्षेत्र साहित्य है और उपाध्याय जी का अध्यात्म। इस कारण मेरा उनके साथ पूर्ण समन्वय नहीं हो पाता। किन्तु मुझे सही मार्ग पर पहुँचने के लिए उनके नाना उपदेश भविष्य में भी सहायक होंगे ऐसी दृढ़ आशा है। किसी समय भर्तृहरि को आरम्भ में जैसा गर्व हो गया था वही मुझे भी हो गया था जो उपाध्याय जी के सहज स्नेह के साथ सम्पर्क लाभ से वह ज्वर की भाँति उतरने लगा है। हालांकि मैं इसे सविस्तर कहने की स्थिति में नहीं हूँ। सचमुच हम लोग ज्ञान समुद्र के किनारे घोंघे सीप ही चुनते पापित हो गये हैं अपना हासिल जैसे कुछ भी नहीं। तो क्या अब भी जीवन व्यर्थ ही पापित होगा कुछ आवाजें गूँजने लगी हैं।

प्राण शक्ति वही संकट हरन। प्राण वायु के संयम में चूक जाते हैं। 'ज्ञान गुण सागर' की स्थिति है अवस्था नहीं। दिव्य मन, दिव्य

वाणी, दिव्य प्राण। इन तीनों की उपलब्धि के बाद (प्राणी) ईश्वर की विशेष कृपा के ग्रहण का अधिकारी हो जाता है। अर्जुन पर कृपा। वायु और प्राण, पवन और पवन कुमार 'उर्पतिलाप्तरश्रम्' सूत्र से शब्द की व्यक्ति को पूर्ण मिटा देना। ध्याननिष्ठ, जपनिष्ठ कर्म रूपनिष्ठ। शब्द का आवरण जल जाता है तब अर्थ अपने स्वरूप में स्थित होता है।

'ॐ' कार की साधना का अधिकारी तभी हो सकता है जब 'हनुमान चालीसा' को सिद्धि प्राप्त कर चुका हो। 'ज्ञान गुण सागर' इस लोक के लिए नहीं। बावरी वे अंखियां जरि जांय जो सांवरि छाड़ि निहारत होंय। पोथा पण्डित को भी जानो। को भी हरि बिनु सबै कहानो।' (संत रैदास)

※●●※

संस्कारों का प्रचालन

सद्गुरु अथवा पूर्ण गुरु के प्रति प्रेम विशेषतः महत्वपूर्ण हैं क्योंकि उसकी वदौलत सद्गुरु से सम्पर्क प्राप्त होता है। ऐसे सम्पर्क के द्वारा जिज्ञासु को सद्गुरु का जो अनुभव चिह्न या चित्त संस्कार उपलब्ध होते हैं उसमें पूर्व जन्मार्जित संस्कारों को अन्यथा करने की विशेष क्षमता होती है। ये अनुभव चिह्न जिज्ञासु के जीवन की दिशा को एकदम बदल देते हैं। सद्गुरु के सम्पर्क से भ्रष्ट से भ्रष्ट जीवन की काया पलट हो जाती है। भले ही मनुष्य इह लौकिक और वासनाओं की तृप्ति के अतिरिक्त अन्य किसी बात का सोचविचार किये बिना दुर्व्यसन तथा दुराचार की जिन्दगी बिताकर अपनी शक्तियों का अपव्यय करता रहा हो। चाहे अधिकार और शक्ति की पिपासा का वह क्रीत दास बन चुका हो और धनार्जन तथा धन संग्रह करने के आमोद प्रमोद के सिवा अन्य कोई आदर्श न हो। किन्तु सांसारिक श्रृंखलाओं से स्वतन्त्रता प्राप्त करने का स्वप्न में भी खयाल न करने वाले ऐसे मनुष्य को भी यह मालूम होते देर न लगेगी कि सद्गुरु के संसर्ग से उसे जो संस्कार प्राप्त होते हैं उनमें उसकी पुरानी आदतों तथा विचार विधियों पर सदा के लिए यवनिका पात करने की शक्ति होती है और वे उसके लिए उच्चतर तथा नवीन विधियां खोल देते हैं।

—स्व० मेहेर बाबा

श्री गुरुदेव

[श्री सरजीत शर्मा शास्त्री]

—※※※—

संसार में सबसे बड़ा सम्बन्ध मानव का उसके गुरु से ही होता है। बाह्य रूप से तो माता भी गुरु रूप ही है। क्योंकि बिना किसी स्वार्थ के वह बच्चे का लालन-पोषण किया करती है तथा छोटे बच्चे के मल इत्यादि की भी सफाई बिना किसी घृणा के करती है। परन्तु श्री गुरु तो जीव के जन्म जन्मान्तरों के पाप मल को धोबी की भाँति धोते हैं। जीव को परम पावन बनाकर मोक्ष की उपलब्धी कराते हैं। सम्पूर्ण अविद्या अन्धकार को ज्ञान सूर्य के प्रकाश से दूर भगाते हैं। कहा गया है :—

पिता से माता सौगुनी,
करती सुत सो प्यार।
माता से हरि सौगुनी,
हरि सो गुरु सौ बार,

अतः यह स्पष्ट है कि गुरु ही सबसे बड़े मधुर सम्बन्धी हैं, जो सदैव सहायक एवं कल्याण का हेतु हैं। अनधिकारियों की संस्कार शुद्धि करके ज्ञान की ओर ले जाने वाले श्री गुरुदेव ही तो होते हैं।

गुरु का अर्थ

शास्त्रों में इस प्रकार किया गया है।

गु—शिष्य के अविद्या-अज्ञान अशुद्धि के अन्धकार को हरते हैं।

रू—शुद्ध संस्कार प्रदान करने वाले तथा ज्ञान रूपी प्रकाश प्रदान करने वाले।

गु एवं रु दोनों अक्षरों की एकता से उपरोक्त अर्थों का बोध होता है।

गुरु का विराट स्वरूप

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु,
गुरुः देवो महेश्वरः।
गुरु साक्षात् पर ब्रह्म,
तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥

इस प्रकार शास्त्रीय ढंग से भी गुरु के अन्दर ही त्रैदेवों की उपस्थिति बतायी गयी है। गुरुद्वारा शिष्य का लौकिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार का हित होता है। ध्यान योग, मन्त्र योग तभी सब जीवों को प्राप्त होता है जब शिव रूप गुरु के चरणारविन्द की प्राप्ति होती है। गुरु के साथ संसार के नाते नहीं होते वे जीवन और मृत्यु के बाद भी एक समान सहायक रहा करते हैं।

माँ भी गुरु रूप ही है अतः समर्थ महापुरुषों की जीवनी में माँ का आदर भाव गुरु रूप ही दीखता है। जैसे भगवान श्री रामजी माता कैकई की आज्ञा मानकर वनवासी हुये थे।

कबीर दास जी ने तो गुरु तत्व को ही प्रधानता दे रक्खी है। यथा—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े,
काके लागूँ पाँव।
बलिहारी गुरुदेव की,
जिन गोविन्द दियो लखाय॥

श्री गुरु की कृपा से ही देव कृपा सहज सुलभ हुआ करती है।

एकाक्षर दाता गुरु

प्रणवाकार श्री गुरुदेव निर्गुणात्मक तत्व उस एकाक्षर का मन्त्र दान जीव को करते हैं। 'एकाक्षरः प्रदातारः गुरुदेव न संशयः।' एक कथा कही गयी है कि एक बार मरते हुये व्यक्ति को गुरु द्वारा राम मन्त्र का उपदेश किया गया। परन्तु मरण अस्त व्यक्ति मात्र 'रा' ही सुन पाया। अतः उसे यमलोक में 'रा' के महत्व के कारण कुछ देर स्वर्ग वासी होना था। यमराज ने पूछा पहले नर्क भोगोगे या स्वर्ग। उसने यह जानकर कि मन्त्र गुरु प्रदत्त 'रा' के श्रवण से यदि यह फल मिला तो ठीक प्रकार से मन्त्र पाकर उसके जप की कितनी महत्ता होती होगी। शक्ति पूर्ण परम तत्व रूप श्री गुरु की कृपा से ही आवागमन रूपी कष्ट प्रद चक्कर से जीव को छुटकारा मिला करता है। यथा—

शिव ब्रह्मा की मार से गुरु बचावन हार
गुरु शाप से त्रैलोक्य में—कोई न रक्षाकार

श्री काकभुसुण्डी जी की कथा का किसे नहीं पता है।

गुरु-पूजा

ध्यान मूलं गुरोर्मूर्ती,
पूजा मूलं गुरोः पदम्।
मन्त्र मूलं गुरोर्वाक्य,
मोक्ष मूलं गुरोः कृपा॥

विराट स्वरूप युक्त श्री गुरु के अंग का ध्यान करना देवताओं के ध्यान से कई गुना अधिक महत्व रखता है। श्री गुरुदेव की आज्ञा वचन ही शिष्य को मन्त्र समझना चाहिये। गुरु प्रदत्त मन्त्र से बढ़कर जग में कोई बड़ा साधन जीव को मुक्ति प्रदान करने वाला नहीं हो सकता। गुरु पूर्णिमा को गुरु पूजन से पाप का नाश श्री गुरु कृपा से होता है। ऐसा श्रुति का प्रमाण है।

सद्गुरू की शक्ति

अपरोक्ष ज्ञान सद्गुरु द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि अलौकिक बोध लौकिक शब्दों द्वारा कराने का सामर्थ्य सद्गुरु और उनके उपदेश में ही होता है। गुरु में यह महान् शक्ति होती है कि अनादि अज्ञान की नींद में पड़े हुए शिष्य को अपने आद्य स्वरूप में जाग्रत कर दे।

योग–साधन में तप का महत्त्व

(ब्रह्मचारी डा० नरेशकुमार एम० ए०, एम एड०, पी० एच डी०)

महर्षि पतञ्जलि ने तप को योग का अन्यतम साधन मानकर क्रियायोग तथा अष्टांगयोग में उसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। वस्तुतः योग नाम एकाग्रता का है और वह एकाग्रता सत्त्व गुण का ही परिणाम है। चित्त भी प्रकृति का सबसे पहला परिणाम होने के त्रिगुणात्मक है। अतः हर प्राणी के चित्त में सत्त्व, रज, तम आदि तीनों गुण हर समय विद्यमान रहते हैं किन्तु आहार विहार के दूषित होने से चित्त में रज और तम का प्रभुत्व हो जाता है तथा सत्त्वगुण मन्द पड़ जाता है। सतोगुण का धर्म प्रकाश, रजोगुण का धर्म प्रवृत्ति और तमोगुण का धर्म स्थिति है। किन्तु, तमोगुण की बहुलता होने पर भी चित्त का वह स्वाभाविक प्रकाश नष्ट नहीं होता, केवल मात्र ढक जाता है। जिस प्रकार चिमनी पर अत्यधिक कालख के जम जाने पर दीपक की लौ यद्यपि बाहर दिखाई नहीं पड़ती तो भी चिमनी के अन्दर ज्यों की त्यों जलती रहती है ठीक यही दशा चित्तसत्त्व कि स्वाभाविक प्रकाश की रज और तम की वृद्धि के समय होती है। यदि किसी भी प्रकार रज और तम का प्रभुत्व समाप्त हो जाए तब वह सत्त्वगुण का प्रकाश चित्त पर अधिकार प्राप्त कर लेता है। इसी स्थिति का नाम योग है। तप रज और तम को क्षीण करने का प्रकृष्ट साधन है। इसीलिए भाष्यकार व्यास ने लिखा है –

नातपस्विनो योगः सिध्यति। अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थित विषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः संभेद मापद्यत इति तपस उपादानम्। तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनाऽऽसेव्य— मिति ॥ व्या० भा० २.१ ।

अर्थात् योग तप रहित पुरुष को सिद्ध नहीं होता। अनादिकाल से कर्म, क्लेश और वासनाएँ चित्त में चित्रित हुई हैं जो विषय जाल को उत्पन्न करती रहती हैं। ये वासनाएँ बिना तप के नष्ट नहीं होती। इसी कारण योगाङ्गों में तप का विधान किया गया है। और वह तप चित्त को प्रसन्न करने वाला है अतः तप का निरन्तर सेवन करना चाहिए— ऐसा योगी लोग मानते है।

द्वन्दों का सहना तप है—

भाष्यकार व्यास के अनुसार द्वन्दों को सहना ही तप है। जैसे भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी,

स्थान-आसन, आकार मौन तथा काष्ठमौन। तथा कृच्छ्र चान्द्रायण, संतापनादि व्रतों का यथाशक्ति सेवन करना। (व्या० भा० २।३२)

भूख-प्यास सहना तप है—

मनु और याज्ञवल्क्य आदि के अनुसार कृच्छ्र व्रत करने में पहले तीन बार सोलह-सोलह तोले उष्ण जल, दूसरे तीन दिन तीन बार सोलह-सोलह तोले दूध, फिर तीन दिन तीन बार ५ तोले ४ माशे घी पीवे, पश्चात् तीन दिन उष्ण वायु भक्षण करे। भाव यह है कि पहले तीन दिन नित्य अड़तालीस तोले उष्ण जल फिर तीन दिन नित्य अड़तालीस तोले दूध, फिर तीन दिन नित्य सोलह तोले घी तथा अन्तिम तीन दिन वायु भक्षण करे। इसी प्रकार बारह दिन एकाकी कुछ भी न खाने से पराक् नामक कृच्छ्र सिद्ध होता है। शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से लेकर जैसे-जैसे चन्द्रमा की कला वृद्धि को प्राप्त होती है वैसे-ही मोर के अण्डे के बराबर एक एक ग्रास को बढ़ाकर पूर्णिमा को १५ ग्रास पर पहुँच जाए। फिर कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को १४, द्वितीया को १३, इस प्रकार एक एक ग्रास को प्रतिदिन घटाकर अमावस्या को उपवास करे। यह चान्द्रायण व्रत कहलाता है। गाय के गोबर का रस, गोमूत्र, दूध, दही, घृत और कुशा का पानी ये क्रमशः दो दो दिन सेवन करके बारहवीं रात कुछ भी न खाने से सन्तापन कृच्छ्र सिद्ध होता है। यहाँ इतना ज्ञातव्य है कि इन व्रतों का अनुष्ठान वहीं तक करना उचित है जहाँ तक ये चित्त की प्रसन्नता को नष्ट नहीं करते। सामान्य दिनचर्या में खान-पान पर नियन्त्रण रखना पुनः लम्बे-कष्टदायक व्रत साधारण शक्ति वाले पुरुष से नहीं हो सकते। अतः साधारण अभ्यासी के लिए तो आधे पेट भोजन करना, तथा सप्ताह में एक दिन अन्न के स्थान पर दूध मिश्रित जल पीकर या फल खाकर रहना ही उपयुक्त है।

सर्दी गर्मी सहना तप है—

ग्रीष्म काल में पञ्चाग्नि साधन करने (चारों ओर आग जलाकर धूप में बैठने, वर्षा-काल में खुले स्थान में रहने और जाड़ों में भीगे वस्त्रों में रहने से गर्मी—सर्दी पर विजय प्राप्त होती है।

देर तक खड़े या बैठे रहना तप है—

घण्टों पहरों अथवा दिनों सप्ताहों तक लगातार खड़े रहना या बैठे रहना स्थान-आसन रूप तप कहलाता है। ज्ञातव्य है कि समाधि की सिद्धि का मुख्य हेतु होने से आसन अष्टांग योग का तीसरा अंग है, अतः बैठने का अभ्यास खास तौर पर अनिवार्य है। यहाँ तक के तप शारीरिक तप हुए। आगे रहे वाचिक तप।

आकार मौन और काष्ठ-मौन तप है—

केवल वाणी मात्र से मौन रहना आकार मौन तथा काष्ठ के समान निश्चेष्ट रहकर संकेतों से, लिखकर या किसी के बुलाने पर भी न बोलना काष्ठमौन कहलाता है। इसी

प्रकार सत्य बोलना, मधुर बोलना, किसी की चुगली-निन्दा आदि न करना, किसी को अपशब्द या कठोर शब्द न कहना वाचिक तप वाणी को ओज से सींच कर मनोबल की वृद्धि करते हैं। महाभारत में कहा है।

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी,
न हीनतः परमभ्याददीत।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत,
न तां वदेद् रुषतीं पापलोक्याम् ॥
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति,
यैराहतः शोचति राज्यहानि।
परस्य नाम मर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ॥

म० भा० शा० प० २९९/८, ९ ॥

किसी को चोट को चोट न पहुँचावे। दूसरों से निष्ठुर वचन न बोले। नीच मनुष्य से आत्म-ज्ञान का उपदेश न ले। जिसे सुनकर को दूसरों को उद्वेग हो ऐसी नरक मे डालने वाली अमंगलमयी बात कभी मुँह से न निकाले। वचन रूपी बाण मुँह से निकलते हैं, उनसे घायल हुआ मनुष्य दिन रात शोक में डूबा रहता है क्योंकि वे दूसरे के मर्म पर चोट करते हैं। अतः विद्वान् योगी अपनी वाणी का बाण दूसरों पर न चलाए।

मान और अपमान सहन करना तप है—

शारीरिक और वाचिक तपों से अधिक महत्त्व मानसिक तपों में मान-अपमान को सहना महत्त्वपूर्ण है। साधारणतः हर मनुष्य मान एवं अपमान से बचने के लिए सचेष्ट रहता है तथा अपमानित होने पर अपमान करने वाले को नीचा दिखाने अथवा उससे बदला लेने की योजनाएं बनाने लगता है। दिन-रात मानसिक परेशानी में डूबा रहता है। परन्तु तपोनिरत योगीजन अपमान करने वाले के प्रति द्वेष भाव नहीं रखते। अपमान-जनक स्थितियों से गुजरने पर वे अपमान के कारण पर विचार कर अपने अन्दर झांकते हैं कि किस दोष के कारण उन्हें अपमानित होना पड़ा। उस दोष से अपने को मुक्त कर देते हैं। वस्तुतः अपमान करने वाले को कोटिशः धन्यवाद देते है। वस्तुतः अपमान हमें सुधार की ओर ले जाता है तथा इसके विपरीत सम्मान पतन की ओर ही ले जाता है। अतः योगी सम्मानजनक स्थितियों से बचने और अपमानजनक स्थितियों से गुजरने का अधिक से अधिक प्रयत्न करना चाहिए। इसी विचार से भगवान् मनु ने कहा था—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्य,
मुद्विजेत् विषादिव।
अमृतस्येव कांक्षेत
अपमानस्य सर्वदा ॥

अर्थात् ब्राह्मण को चाहिए कि वह सम्मान से जहर की भाँति बचता रहे तथा अपमान को अमृत के समान जानकर सदैव उसकी कामना करे।

सुख दुःख को सहना तप है—

इसी प्रकार सुख दुःख को सहन करना भी तप है। संसार में प्राणीमात्र दुःखों को

छूटने और सुख की प्राप्ति के लिए लालायित रहता है। परन्तु योगी लोग दुःख को सुख से बढ़कर ही समझा करते हैं। दुःख प्राप्त होने पर हमारी बुद्धि ठिकाने आ जाती है पाप को छोड़ धर्म और ईश्वर की ओर उन्मुख हो जाती है। संसार में सबसे बड़ा दुःख मृत्यु का है। परन्तु बुद्ध, शंकराचार्य, दयानन्दादि अनेकानेक महापुरुषों को विवेक का उदय मृत्यु के दृश्य ने ही कराया था। इसके विपरीत सुख वैभव हमें उन्मत्त कर धर्म और ईश्वर को भुलने का ही हेतु बनता है। अतः दुःख तो उन्हीं व्यक्तियों पर पड़ा करता है जिनका भावी कल्याण सन्निकट हो, क्योंकि दुःखानुभव के बिना विवेक का उदय सम्भव नहीं है। सुखानुभव से राग की उत्पत्ति होती है और दुःखानुभव से वैराग्य की। अतः योगीजन दुःख को सुख से श्रेष्ठकर जान लेने पर ही दुःखों को सहर्ष सहन करने को तत्पर रहते हैं। ठीक ही कहा है—

सुख के माथे सिल परै,
नाम हृदय से जाय।
बलिहारी वा दुःख की,
पल पल नाम जपाय॥

इन्द्रियों का निग्रह तप है—

महाभारत में भीष्म पितामह ने तप को इन्द्रिय संयम बताते हुए कहा है—

तपोमूलमिदं सर्वयन्मा,
विप्रानुपृच्छसि।
इन्द्रियाण्येव संयम्य,
तपो भवति नान्यथा॥

हे विप्र! जिस तप के विषय में तुम पूछ रहे हो उसका मूल इन्द्रिय निग्रह होता ही है। इन्द्रियों को रोकने से ही तप बनता है अन्यथा नहीं। इन्द्रियाँ पाँच हैं जिनके विषय हैं—शब्द, स्पर्श, रूप रस, गन्ध। उनके प्रिय-अप्रिय दोनों रूपों में एक सम रहना ही तप है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमें योगशास्त्रों में तप के अनेक रूपों के दर्शन होते हैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के जीतने का जहाँ तक प्रश्न है उसके लिए अनेकानेक प्रकार की साधनाएँ भारत के योगाश्रमों में प्रचलित हैं। किन्तु, विस्तार भय से हम यहाँ पाँचों विषयों को न लेकर केवल एक विषय की साधना को ही ले लेते हैं। मान लीजिए, एक अभ्यासी जिह्वा रस-लोलुप है तथा हर समय अनेक विधि सुस्वादु भोजनों में ही उसकी प्रवृत्ति बनी रहती है। वह रस विषय को जीतना चाहता है तो उसे इसकी निम्न प्रकार से साधना करनी होगी। कल्पना कीजिए, उसकी प्रवृत्ति सर्वाधिक आम में है तो वह प्रतिदिन प्रातः एकान्त देश में जाकर अभ्यस्त आसन से बैठ जाए। पुनः आम के गूदे को जिह्वा के अग्र भाग पर एक मिनट तक मले। मलते समय मन को जिह्वाग्र पर केन्द्रित कर गूदे के स्पर्श से उत्पन्न आनन्दानुभव में डूब जावे। गूदे को हटाने पर भी कल्पना द्वारा उसी सुखद प्रतीति को जिह्वाग्र भाग पर बनाए रखने का यत्न करे। कुछ दिन के अभ्यास से गूदे को हटा लेने पर भी साधक की स्मृति बल से वह स्पर्श जिह्वाग्र पर ठहरने लगता है। ऐसा होने पर ध्यान का समय बढ़ाते जावे।

पहले एक मिनट मुद्रे को मल कर एक मिनट याद किया था। क्रमशः एक मिनट मलने पर मुद्रे को हटाकर ध्यान द्वारा रस प्रतीति में निमग्न होने का समय दो मिनट-तीन मिनट— चार मिनट—इस प्रकार बढ़ाते हुए एक घण्टे तक रस प्रतीत सिद्ध होने पर ध्यान समय के अतिरिक्त भी जिह्वाग्र पर ध्यान करने मात्र से वह रस (बिना मुद्रा मले ही) जिह्वाग्र पर प्रतीत होने लगता है तथा अभ्यास के साथ-साथ दिन प्रतिदिन विलक्षण होता चला जाता है। कालान्तर में रस की पूर्ण सिद्धि हो जाने पर वह रस योगी के इतना वश में हो जाता है कि याद करने मात्र से जिह्वा पर उपस्थित हो जाता है तथा संसार के समस्त रस उस विलक्षण रस के समक्ष फीके प्रतीत होने लगते है। ऐसा रस-सिद्ध मनुष्य समस्त प्रिय अप्रिय रसयुक्त खाद्य पदार्थों में इच्छा-रहित हो जाता है तथा दूरस्थ खाद्य पदार्थों का रसस्वादन संकल्प बल के प्रयोग से ही कर सकता है—ऐसी योगीजनों में मान्यता है। इसी प्रकार शब्दसिद्धि, गन्ध-सिद्धि, स्पर्शसिद्धि और रूप-सिद्धि के लिए भी नानाविधि तपस्याएँ और साधनाएँ प्रचलित है जो अन्य लेखों में यदा-कदा दी जाएगी।

अन्य तप—ग्रन्थान्तरों में कहीं अहिंसा को, कहीं सत्य को, कहीं, ब्रह्मचर्य और कहीं प्राणायाम को महत्त्वपूर्ण तप बताया गया है। परन्तु, अष्टांगयोग में, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य प्राणायामादि की पृथक गणना होने से यहाँ हमने जान बूझकर उन्हें ग्रहण नहीं किया है। क्योंकि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर तो सम्पूर्ण योग ही एक तप है।

तप का फल- योग सूत्रों में तप के फल-स्वरूप अशुद्धि का नाश होकर शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होना स्वीकार किया है। वस्तुतः तप के प्रभाव से योगीजन, क्षुधा-तृषा, गर्मी-सर्दी, तथा स्थान आसन के अभ्यास से निद्रा और ब्रह्मचर्य को सिद्ध कर लेते हैं। इसी प्रकार वाचिक तपों और मानसिक तपों के अनुष्ठान से सुख-दुःख मान-अपमान, राग-द्वेष, निन्दा स्तुति, शोक हर्षादि से ऊपर उठ कर निर्द्वन्द हो जाते हैं। तब तो योगी कोटि जो भोगों को त्याग साक्षात् मोक्ष की ही अनुभूति करने लगते है क्योंकि उपनिषदों में कहा है—

को वा मोक्षः कथं केन,
संसारं　　प्रतिपन्निवान्।
दर्शनो० ॥२/३।
इत्यालोचनमर्थज्ञाः
तपः शंशन्ति पण्डिताः ॥
नासौ　　मर[illegible]ोति,
पुनर्योगबलेन
हठेन　　मृत　　एवासौ
मृतस्य　　मरणं　　कुतः ॥
योगशिख-उप० १/५५॥

अर्थात् मोक्ष दुःखों से छूटना ही है। दुःखों से ही संसार पीड़ित हो रहा है। तप हमें दुःखों से ऊपर उठा देता है। अतः तत्त्वज्ञ विद्वान लोग तप की ही प्रशंसा करते हैं। वह तपस्वी (योगबल से, मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। जो हठपूर्वक तपस्याएँ करके स्वयं ही मर चुका हो उस मरे हुए का पुनः मरना कहां? सर्दी-गर्मी भूख प्यास, अपमान-निन्दादि जन्य दुःखों के उपभोगों से मूढ़ लोग डरे मरते हैं उनमें वह जितेन्द्रिय योगी जीता रहता है और जिन ऐन्द्रिय विषयों तथा सम्मान, राग, हर्ष, स्तुति आदि जन्य सुखों को मूढ़ लोग जीना समझते हैं वहाँ वह योगी अपने तपोबल से स्वयं ही मर चुका है। देखिए:—

मरणं यत्र सर्वेषां,
तत्रासौ परिजीवति।
यत्र जीवन्ति मूढास्तु
तत्रासौ मृत एव वै॥

योगवासिष्ठ ५/४६॥

अतः तप की शक्ति महान् है। इस शक्ति के प्रभाव से ही योगी असम्भव को सम्भव में, दुःख को सुख में, जीवन को मरण में और मरण को जीवन में परिणित कर सकता है। तप के समान अशक्य कुछ नहीं है। तप के प्रकर्ष से बन्धन को मोक्ष में बदला जा सकता है—इसमें सन्देह नहीं है। तपोबल से मान-अपमान, सुख दुख राग-द्वेषादि से ऊपर उठे योगी की स्थिति संसार के पुरुषों से विलक्षण हो जाती है। विष के समान मारक दुःख भी उसके लिए अमृत के समान मधुर और तारक बन जाता है। विश्व का कोई भी प्राणी अपने प्रिय या अप्रिय व्यवहार से उसे विचलित नहीं कर सकते। तप से ही ऋतंभरा प्रज्ञा का उदय होता है—अन्यथा नहीं। रज तम के प्रकोप पर विजयी हो कर तप के उच्चतम धरातल पर विराजमान सुख-दुःख शोक मोहादि से अतीत योगी ही सत्वगुण के स्थायी उदय रूप नैष्ठिकी बुद्धि को प्राप्त होता है जिसे प्राप्त कर योगी ऋग्वेदीय सोमसूक्त के ऋषि की भांति ही आनन्दोन्माद में वह सुधा-सिक्त गान गा उठता है।

अपाम सोमममृताऽभूमा,
गन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः
किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य॥

ऋ ८/४८।३

अर्थात् हमने अमृत पी लिया है, हम अमर हो गये हैं, हम दैवी ज्योति को प्राप्त हो गए हैं। हमें सब देवगण प्राप्त हो गए हैं। अब संसार की शत्रुता हमारा क्या बिगाड़ सकती है तथा किसी धूर्तता भलाकी अमृतधर्मा धर्मा मनुष्य का क्या अपकार कर सकती है।

—卐—

❀ हे परमेश्वर ❀

हे परमेश्वर !!
तू निर्गुण, निराकार, केवल अनिर्वाच्य है।
तेरी महिमा का आकलन हमारा हृदय कैसे करे ?
तुझे हमारी आँखें कैसे देखें ?
तेरा वर्णन हम अपनी टूटी फूटी वाणी से कैसे करें ?
जहाँ वेद और पुराणों को भी नेति-नेति कहना पड़ा—
वहाँ हमारी क्या-क्या बिसात ?
लेकिन इसीलिए तू भक्तों की भावना के वश होकर
हमारे लिए उदारता पूर्वक,
सगुण, साकार, सुलभ बन गया है।
अब हम अपने हृदय पर
तेरे ध्यान का ओढ़ना ओढ़ सकते हैं।
आँखें भरकर तुझे निहार सकते हैं।
वाणी से तेरा नाम गा सकते हैं।
निर्गुण तो तू है ही,
लेकिन हमारी प्रार्थना है—
कि जब तक हमें यह आंखें और यह वाणी प्राप्त है।
तब तक तेरा यही सगुण सुन्दर रूप
और सर्वोत्तम मधुर नाम
हमें निरन्तर प्राप्त होता रहे।

—ज्ञानदेव !

पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्

यह संसार रूपी बाजार लगा हुआ है और यदि इसमें ईश्वर रूपी लाभ कर लिया जाय तो सारे कष्टों से छुटकारा मिल सकता है।

\+ \+ \+

बिना वैराग्य हुए व्यर्थ ज्ञान छांटना वैसा ही है जैसा कारागार में बन्द पड़े रहकर अपने पुरुषार्थ की बातें बघना।

\+ \+ \+

जब विवेक के द्वारा मन की उपाधियां हट जाती हैं और वैराग्य हो जाने के कारण गृहस्थी के बखेड़े दूर हो जाते हैं तब वह अन्दर और बाहर दोनों तरफ से मुक्त होकर नि:संग योगी हो जाता है।

\+ \+ \+

जिसने जीवित रहने की दशा में ही अपना जन्म सार्थक नहीं किया, उसकी आयुष्य व्यर्थ बीती। भगवान से उसकी भेंट नहीं हो सकती। जब बीज ही नहीं बोया गया तब वह उगेगा कहाँ से।

\+ \+ \+

मनुष्य की दृष्टि की यह आदत सी पड़ गई है कि वह उसी का अस्तित्व मानती है जो उसे दिखाई पड़ता है और जो वस्तु गुप्त होती है उसे वह गोप्य कहता है। पर जो कुछ प्रकट है उसे असार समझना चाहिए और जो गुप्त है उसे सार समझना चाहिए। यह बात गुरु से ही अच्छी तरह समझी जा सकती है।

—समर्थ रामदास 卐

जगत् गुरु श्रीकृष्ण का शक्तिपात एवं सिद्ध योग की साधना

(—सुश्री उमा शर्मा—संगीतरत्न)

श्री राधिकाजी अखिललोक पावन जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण की आह्लादनी शक्ति हैं। शक्ति और शक्तिवान का अभेद सम्बन्ध है इस बात को सभी विद्वान लोग भली प्रकार जानते हैं। श्री राधिकाजी योग-योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण की अपनी निजी शक्ति है यह बात तो प्रायः निर्विवाद ही है। किन्तु फिर भी श्री राधिकाजी एवं उनकी सहेलियों के लिये लोगों की उनके प्रति विभिन्न विचारधारायें हैं जिनमें से अनुरागी भक्त तो समाज बृज गोपिकाओं को परम प्रेम रूपा परमानुरागिणी कृष्णोपासिका मानते हैं। ये बिल्कुल सत्य है कि गोपियों का अनुराग चरम सीमा तक पहुँच चुका था उनके चिन्तन में कभी भी कोई कमी नहीं आती थी। श्रीकृष्ण तत्व की ब्रजगोपिकाएँ एवं श्री राधिकाजी अनन्य चिन्तिका थीं।

एक बार अर्जुन के मन में अपना श्रीकृष्ण का अनन्य प्रेमी होने का अभिमान पराकाष्ठा पर पैदा हुआ और उसने यह विचार किया कि श्रीकृष्ण प्रेमियों में मेरा स्थान सर्वोत्कृष्ट है। श्रीकृष्ण अर्जुन के मनोभावों को प्रतिक्षण समझते थे किन्तु उन्होंने उनके मनोभावों को जानकर भी उसको प्रोत्साहन देने वाला कोई भी शब्द नहीं कहा—अन्ततः अर्जुन को स्वयं ही कहना पड़ा कि प्रभो! क्या मुझसे भी बढ़कर आपका कोई प्रेमी है? अर्जुन के ऐसा कहने पर श्रीकृष्ण को अपने ब्रज मण्डल की याद आई और उन्होंने मन्द-मुस्कान से मुस्कुराते हुए अर्जुन से कहा—अर्जुन!

निजंगमपि या गोप्या,
समेति उपासते।
ताभ्यां परं न मे पार्थः,
निगुढं प्रेम भाजनम्॥

अर्थात् जो बृज गोपिएँ अपने अङ्गों की रक्षा इसलिये कर रही हैं कि उनके अंग कभी न कभी मेरी सेवा में आजायेंगे उनसे बढ़कर मुझे इस संसार में कोई भी प्यारा नहीं है। ये थी ब्रज गोपियों की महत्ता जिसकी स्वयं श्रीकृष्ण ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की। एक बात को याद रख लेना चाहिये कि प्रेम—और वासना दोनों एक दूसरे के विपरीत वस्तु है। कामी पुरुष या स्त्रियाँ अपने स्वत्व को देखते हैं। कामना की पूर्ति चाहते हैं।

प्रेमी अपने प्रिय के स्वरूप को देखता है तथा प्रेमी अपने प्रिय के लिये हर दुख में भुन जाना चाहता है। वह दुःख उठाये तो उठाये किन्तु उसका प्रिय किसी प्रकार से भी दुःख का भागी न होने पाये। भक्तात्माओं के इस प्रकार के हजारों उदाहरण है जिनमें उन लोगों ने अपने प्रिय के लिए सर्वस्व न्यौछावर कर डाला।

श्री राधा श्रीकृष्ण की आह्लादनी शक्ति परम प्रेम स्वरूपा हैं। इसी प्रकार से अन्य वृज गोपिकायें भी सब प्रकार से प्रेमानुरागिनी श्री राधा को अन्तःसहचरी हैं। विचारणीय बात केवलमात्र एक है। श्री राधिका एवं व्रजगोपियों का यह प्रेम किन भावों में समझा जाये। क्या इन लोगों को—

"भजनं सेवनं भक्तिः"

के, नियमानुसार केवलमात्र भगवत् भक्ता कहकर के छोड़ दिया जाये अथवा अखिलात्मा जगत्गुरु योगयोगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त करने वाली सिद्ध योग की साधिका मानी जायें।

श्री राधिका एवं व्रजगोपियों के स्वरूप का परिचय वैसे तो उनके बहुत से लीला चरित्रों से ज्ञात हो जाता है किन्तु उनके स्वरूप का वर्णन एक इस चरित्र से बिल्कुल ही स्पष्ट हो जाता है। पढ़िये—

ऊधो को जगदात्मा योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने श्री वृन्दावन क्यों भेजा यह भी एक रहस्य की बात है। इन सब बातों को प्रत्येक व्यक्ति नहीं समझ सकता—और समझते भी है तो हरेक प्राणी अपनी अपनी मति के अनुसार समझते हैं। कहा है—

"मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना"

पाठक गण इस बात को भली प्रकार अवश्य जानते ही होंगे कि अखिल लोक पावन भगवान श्रीकृष्ण पूर्ण योग योगेश्वर योग गम्य एवं योगविग्रह हैं। उनका प्रत्येक चरित्र योगमय है।

श्रीकृष्ण अपनी प्रियशक्ति श्री राधिका, व्रजगोपियों आदि—सभी को छोड़कर मथुरा चले गये अपने प्यारे व्रजमण्डल की की स्मृति उन्हें रह रहकर आती रहती। उधर उद्धवजी कभी कभी प्रकरण आने पर श्रीकृष्ण को अपने शुष्क वेदान्त की बातें सुनाते। श्रीकृष्ण अपने प्यारे सखा उद्धव को अपने पवित्र योगमार्ग पर आरूढ़ करना चाहते थे। क्योंकि ऊधो को "अहं ब्रह्मास्मि" का सूना सिद्धान्त उनको कल्याण के आदि स्रोत तक नहीं पहुँचा सकता था। अधिक से अधिक वह ज्ञान धारणाओं को दृढ़ करके अपने पुण्य को बढ़ाकर स्वर्ग लोक के उपभोक्ता बन सकते थे, क्योंकि हमारे शास्त्र का सिद्धान्त है—

ज्ञान रक्तो विरक्तो वा
　　धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः
विना योगेन देवोऽपि
　　न मोक्षं लभे द्विये।
(योगशिखोपनिषद्)

अर्थात् चाहे कोई विरक्त हो या ज्ञानी हो धर्मात्मा हो या ब्रह्मचारी हो, चाहे देवता भी क्यों न हो— बिना योग के उसको भी मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

इसलिये जगदात्मा श्रीकृष्ण ने ये विचार किया कि ऊधो— उनके व्रजमण्डल में जायें और वहां जाकर के एकात्मभूता उनकी पूर्ण शक्ति राधिकाजी एवं श्री व्रजगोपियों से योगोपदेशपाकर कृतार्थ हो जाये। व्रजगोपियें कितनी पुण्यआत्मा थीं जिनके विषय में श्रीमद्भागवत् में स्वयं शुकदेवजी अपने मुखारविन्द से कहते हैं—

"यासां हरि कथोदगीतं
　　पुनाति भुवनत्रयंम्"

अर्थात् जिनके हरि कथा के गाये हुए गीत तीनों भुवनों को पवित्र करते है। श्रीकृष्ण के चले जाने के बाद श्री वृन्दावन की कुंज निकुंजों में घूमती हुई मिलकर गाती हुई वृज गोपियें कहती थीं—

स्याम अब मत तरसाओ जी।
मनमोहन नन्दलाल दयाकर
　दर्श दिखाओजी।
व्याकुल आज आपकी,
　राधा माधव आओ जी।
तव दरशन लीग तृषित
　दृगन को सुधा पिलाओजी।

आत्मा आत्मा का साक्षी है। श्रीराधिका एवं व्रज-गोपिकायें प्रेम में विभोर होकर के अपने प्राणों के आधार श्रीकृष्ण का अनन्य भाव से चिन्तन कर रही थीं। गोपियों की वह दशा सुनने और देखने से बाहर थी। व्रज कुंज निकुंजों में खोई सी घूम रही थीं कभी उठती थी कभी बैठती कभी चलती कभी खड़ी हो जाती थीं कभी आंखें बन्द करती कभी खोलती थी—प्रेम का तार प्रतिक्षण बँधा हुआ था। उनका मन उनकी याद में तड़फ रहा था। आंखें रूप दर्शन को तड़फ रही थीं किन्तु विचित्र बात यह थी कि वो उनसे कभी दूर नहीं थे रोम - रोम श्याममय था।

उधर मथुरा में श्री कृष्ण भी उनकी प्रिय स्मृति में विह्वल हो उठे और उन्होंने शुष्क वेदान्त के ज्ञानी ऊधों को बुलाकर कहा—

सूरदासजी अपने भाव व्यक्त करते हुए कहते है—

ऊधो मोहि व्रज बिसरत नाही।

इस प्रकार की पुण्य-स्मृति मथुरी में रहते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण को व्रज मण्डल की हो रही थी। उसी मधुर स्मृति में श्रीकृष्ण ने ऊधो को व्रजगमन की आज्ञा दी कि ऊधो! जल्दी जाओ और हमारी श्रीराधिका एवं सम्पूर्ण व्रजमण्डल की सुधि लाओ। और उनको कुछ ज्ञान का उपदेश कर आओ। ताकि वो लोग मेरा विरह भूल जायें। ऊधो श्यामसुन्दर का सन्देश लेकर व्रजमण्डल में

ज्यों ही पहुँचे त्यों ही देखते हैं कि वहाँ पर रोम रोम श्याममय है। श्याम विरहिणी ब्रज गोपियें या उनके अन्य गोप सभी श्याममय हैं उनके चित्त एकाग्र हैं आँखें बन्द हैं। प्रेम विभोर होकर गा रहे हैं।

सूरदासजी के शब्दों में—

निशदिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हम पर,
जब तें श्याम सिधारे।

ब्रजवासियों को इस तन्मयता एवं इस पवित्र स्वरूप को देखकर ऊधो की आँखें खुल गईं और उन पवित्र आत्माओं के सम्पर्क से ऊधो को भी अन्तरानुभूति जारी हो गई। ऊधो ने यह भली प्रकार समझ लिया फिर अखिलात्मा योगेश्वर भगवान कृष्ण ने उसको ब्रज में क्यों भेजा था। उसको अपना वाचिक-ज्ञान नीरस लगने लगा। ऊधो ने यथार्थता को समझ लिया

सिद्धयोग के विषय में हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त भी है—

"यस्मिन् देशेवसेद्योऽपि
ध्यान योग विचक्षणा।"
सोऽपि देशो भवेत् पूत,
किंपुनः शशि बान्धवः॥

अर्थात् जिस स्थान में एक ध्यान योगी वास करता है वह देश का देश पवित्र हो जाता है उनके बन्धु-बान्धवों का तो क्या कहना।

श्री राधिकाजी एवं अन्य सभी ब्रज वासी जन वहाँ ध्यानी ही ध्यानी थे जगत् गुरु श्रीकृष्ण के शक्ति संचार से ये लोग सिद्ध योग में पूर्णतया प्रवेश कर चुके थे। अखिलात्मा के मथुरागमन के बाद इनको आँखों के सामने श्री हरि के अतिरिक्त कुछ था ही नहीं। एक दूसरे को सम्बोधित करते हुए ये लोग कहते थे कि ये देखो श्याम। ये देखो श्याम! ये ही है श्याम। इधर श्याम। उधर श्याम। सारा जगत श्याममय था उनकी आँखों में रुचनी प्रकाश छा चुका था वे लोग श्रीकृष्ण में अभिन्न हो चुके थे। अखिलात्मा ने गीता में स्वयं बताया है—

यो मां पश्यति सर्वत्र,
सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि,
सच मे न प्रणश्यति

ये थी उन सभी की स्थिति, न व श्याम से दूर थे न श्याम उनसे दूर थे।

विशेष लेखमाला—

जीवन तत्त्व साधन

[श्री गिरीशदेव वर्मा, बहराइच]

६—बाल मचलन

जीवन तत्त्व साधन की छठी क्रिया का नाम बाल मचलन है। जब छोटे बच्चे अपनी माता से रूठ जाते हैं तब वे चारपाई पर पड़े-पड़े हाथ-पैर चलाया करते हैं। इस क्रिया को करने के लिये सीधे चित लेट जाइये, दोनों हाथों की मुट्ठियों को बांध लीजिये और हाथों को कड़ा करके दोनों पैरों तथा हाथों को उसी प्रकार जल्दी-जल्दी चलाना चाहिये जैसे बच्चे मचलने के समय करते हैं। दोनों हाथ छाती के पास आगे पीछे चलते रहेंगे। पाँव भी आगे-पीछे होते रहेंगे। इस क्रिया में जब दायें पैर को ऊपर करेंगे तो दायाँ हाथ ऊपर चला जायेगा और जब बायाँ पैर ऊपर करेंगे तो बांया हाथ ऊपर को ओर चला जायेगा। इस प्रकार से दोनों हाथों व पैरों को क्रमशः जल्दी-जल्दी चलाना चाहिये, किन्तु सिर यथार्थ रूप में जमा रहना चाहिये। इस क्रिया को एक मिनट तक करनी चाहिये।

इस क्रिया को करते समय साधक की मनोभावना एक बच्चे की तरह हो जाती है और शरीर में एक स्वाभाविक आह्लाद पैदा हो जाता है। हाथ-पैरों को वेगपूर्वक चलाने से जो शरीर के नस-नाड़ियों का व्यायाम हो जाता है उसका लाभ तो अलग है ही। सबसे बड़ा लाभ मन की प्रसन्नता से सम्बन्ध रखता है। आज वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है कि खूब जोर से हँसने से स्वास्थ्य में बड़ा सुधार हो जाता है। मन में विकार आने पर अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ईर्ष्या-द्वेष से तिल्ली व जिगर के रोग हो जाते हैं। निराशा और डर से हृदय रोग हो जाता है। क्रोध और घृणा से गुर्दों में विकार आ जाता है। चिन्ता से छाती और सिर में फोड़े व पीलिया रोग हो जाते हैं।

क्रोधी माँ का दूध पीने से बच्चों को प्रायः दस्त आने लगते हैं। जिस प्रकार चित्त की प्रसन्नता से कोई बीमारी नहीं होती और मनुष्य दीर्घायु प्राप्त करता है। प्रसन्न चित्त होकर भोजन करने से भोजन खूब पच जाता है। प्राचीनकाल में जब राजा लोग भोजन करते थे, उस समय विदूषक और हँसमुख व्यक्ति वहाँ हँसी का वातावरण उत्पन्न करते।

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि दिन में कम से कम एक बार खूब जोर से ठट्ठा मारकर हँसना आवश्यक है। यदि किसी अन्य से न हँस सको तो अपना ही चेहरा शीशे में देखो और हँसो। चाल-चलन करने वालों को तो एक बार हँसने और प्रसन्न होने का अच्छा मौका लग जाता है। यदि आपको हँसने का अवसर नहीं मिलता तो चाल-चलन क्रिया कीजिये। पश्चात् आप देखेंगे कि आपमें प्रसन्नता की लहर दौड़ने लगेगी और आपको दिन भर तरोताजा बनाये रक्खेगी। इस क्रिया में यही गुण नहीं है कि करने वाला ही प्रसन्न होता है वरन् जो कोई दूसरा देखता है वह भी बिना हँसे नहीं रहता। प्रसन्न चित्त रहने का यह एक क्रियात्मक साधन है।

अंग्रेजी में एक कहावत है कि Laugh three times a day and keep the doctor a way. अर्थात दिन में तीन बार हँसो और डाक्टर को दूर रक्खो। यदि आप दिन में तीन बार चाल-चलन-क्रिया करने लगें तो अनायास हँसने का मौका मिल जायेगा और आपको डाक्टर या वैद्य का द्वार नहीं खटखटाना पड़ेगा। प्रसन्न चित्त रहने के सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों के मत निम्नलिखित हैं :—

१ हँसो, शरीर से पुष्ट बनोगे। (बेन जानसन)

२—हँसो, दीर्घकाल तक जीओगे। (शेक्सपीयर)

३—प्रसन्न मुख को देखकर बड़े लोग भी खुश होते हैं। (वर्ड्सवर्थ)

४—हँसने के समान आरोग्यदायक दूसरा व्यायाम नहीं। (प्रू फर्लेंड)

५—बिना हँसी के जीवन तो डरावना है। (थकरे)

६—जब तू हँसेगा तो विश्व भी तेरा साथ देगा। (विलकाक्स)

७—घर में बच्चों के हँसने-कूदने की ध्वनि पृथ्वी का अत्यन्त मधुर नाद ही है।

८—स्वच्छ मन और हास्य देखते ही मालूम हो जाता है कि वह कितना शुद्ध और आनन्दयुक्त है। (विक्टर ह्यूगो)

आज तक जितने व्यायाम मानव समाज में प्रचलित हैं उनमें खिल खिलाकर हँसना सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि हँसने से हमारे समस्त स्नायुओं पर समान तनाव पड़ता है। ईश्वरीय सृष्टि में हँसी का आनन्द लेने का अवसर केवल मनुष्य को ही प्राप्त है, क्योंकि पशु-पक्षी आदि रो सकते हैं पर हँस नहीं सकते। चिन्ताओं से मुक्त होने के लिये और प्रसन्नता प्राप्त करने के लिये मनुष्य अनेक प्रकार का उपाय करता है। कोई नशा पीता है, कोई जुआ, ताश शतरंज खेलता है। कोई सिनेमा देखता है तो कोई यार-दोस्तों में बैठकर गप्पबाजी करता है। किन्तु ये सब उपाय अनैतिक तथा पैसा व समय नष्ट करने वाले हैं। यदि थोड़ी-सी प्रसन्नता मिलती भी है तो उसके बदले

भारी कीमत चुकानी पड़ती है। बाल-मचलन की क्रिया कितनी आसान, बिना खर्च वाली कम समय वाली तथा अधिकतम लाभ देने वाली है। अन्य उपायों से प्रसन्नता प्राप्त करने के लिये बाह्य उपकरण की आवश्यकता पड़ती है किन्तु बाल-मचलन बिना किसी अन्य उपकरण के कहीं भी की जा सकती है और प्रसन्नता का लाभ उठाया जा सकता है। श्री महाप्रभुजी का यह एक अनोखा आविष्कार है जो युवकों एवं वृद्धों को भी बालक बना देता है।

हमारा शरीर असंख्य जीवित सेलों का समूह है। हमारे मन व मस्तिष्क के प्रत्येक भले-बुरे अनुभव का प्रभाव उस पर पड़ता है। क्रोध के कारण मनुष्य का सम्पूर्ण शरीर गरम हो जाता है, कांपने लगता है। भय के समाचार से रोंगटे खड़े हो जाते हैं, दिल धड़कने लगता है। चित्त जब प्रसन्न होता है तो सारा चेहरा फूल के समान खिला हुआ दिखाई देता है। आंखें हँस रही सी जान पड़ती हैं। जो बालक परीक्षा में उत्तीर्ण होने का शुभ समाचार देने के लिये घर दौड़ता है। उसका शरीर आनन्द के मारे उससे भी आगे निकल जाने को करता है। यह बात गलत है कि जब कोई कष्ट आ पड़ता है तो चिन्ता व शोक घेर लेते हैं और मनुष्य का वश नहीं चलता। जिनको अपने स्वास्थ्य-सुधार का ध्यान है वे सदैव हर हालत में प्रसन्न रहने का अभ्यास करते हैं। एक व्यक्ति दो रुपये कमाता है, वह रोता है और एक फकीर खाली जेब है मगर वह हँसता है और मस्ती से गाता है। यह सब मन का फेर है। यदि आपका मन बहुत समझाने पर भी हँसता नहीं है और हर समय चिन्तित व खेदयुक्त रहता है तो आप बाल-मचलन क्रिया का अभ्यास कीजिये। ऐसा करने पर आप देखेंगे कि प्रसन्नता आपके पास दौड़ी आ रही है।

रोगी की चिकित्सा में भी प्रसन्नता का बड़ा हाथ है। एक बार पांच व्यक्ति नाव पर कहीं जा रहे थे। निश्चित स्थान दूर था तभी एक व्यक्ति के पेट में तीव्र पीड़ा उत्पन्न हो गयी। वो मचलने लगा। उसी पार्टी का एक अन्य व्यक्ति बड़ा हँसोड़ा था। उसको एक सुन्दर कहानी याद आ गयी और वह सुनाने लगा, जिसको सुनकर सभी के पेट में बल पड़ गये। सभी लोग हँसते हँसते लोट-पोट हो गये। वह पेट का रोगी व्यक्ति भी हँसा और खूब हँसा, जिससे उसके पेट का दर्द एक बारगी दूर हो गया।

एक मनोवैज्ञानिक चिकित्सक के पास एक युवक लाया गया। उसकी आयु बीस वर्ष की थी। वह हृदय रोग से पीड़ित था। जाति का ठाकुर होते हुये भी अति दुर्बल था। उसके पिता व चाचा की अच्छी खेती बाड़ी थी और उन दो भाइयों के बीच वही अकेला लड़का था। युवक के रोगी होने पर

उसके पिता ने उसे अच्छे-अच्छे वैद्यों—डाक्टरों को दिखाया और हजारों रुपयों इलाज में खर्च किया, मगर कोई लाभ नहीं हुआ। अन्त में उसे लखनऊ मेडिकल कालेज ले गये और वहाँ डाक्टरों ने एक्स-रे आदि करके बतलाया कि युवक के हृदय की झिल्ली पर एक ट्यूमर बन गया है, जो दवा से ठीक नहीं हो सकता। उसका आपरेशन ही इलाज है, किन्तु हृदय का आपरेशन नाजुक है और हो सकता है कि रोगी की मृत्यु हो जावे। अतः डाक्टरों ने कहा कि यदि युवक के पिता बाण्ड भर देवें तो आपरेशन किया जा सकता है। युवक के पिता भयभीत होकर घर लौट आये और अपने परिजनों से सलाह करने लगे। उसी समय किसी ने उक्त मनोवैज्ञानिक चिकित्सक का पता बताया और कहा कि उनसे भी राय ले ली जाय।

मनोवैज्ञानिक ने युवक से युवक की पत्नी से, उसके माता-पिता से अनेक प्रश्न किये और रोग के कारण का पता लगा कर कहा कि आपरेशन की कोई आवश्यकता नहीं है। यह युवक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा द्वारा ठीक हो जायेगा। उसके घर वाले बहुत प्रसन्न हुये और हजारों रुपये देने को तैयार हो गये। मनोवैज्ञानिक ने कहा—कि इसके इलाज में दो मास लगेगा और इस बीच, युवक की स्त्री, माता-पिता, चाचा, बहिन आदि सभी परिजनों को मेरे पास आना पड़ेगा तथा मेरे प्रश्नों का सही उत्तर देना होगा ताकि मैं, रोग की ग्रन्थि को खोल सकूँ और युवक को स्वस्थ बना सकूँ। ऐसा ही किया गया और दो मास में वह युवक स्वस्थ हो गया। उसका पुनः एक्स-रे कराया गया तो ट्यूमर का कहीं पता नहीं था। सभी विकार दूर हो गया और वे लोग प्रसन्नतापूर्वक अपना जीवन बिताने लगे।

मनोवैज्ञानिक ने अपनी डायरी में लिखा है कि प्रश्नों द्वारा यह मालूम हुआ कि जब युवक १२ वर्ष का था तभी उसका विवाह कर दिया गया। उसकी स्त्री एक पढ़ी-लिखी आधुनिक विचारों वाली लड़की थी।

उसकी आयु १६ वर्ष की थी। लड़की स्वस्थ और यौवन पर थी। युवक १२ वर्ष का दुबला पतला बालक था। पहले ही दिन लड़की ने अपने बालक पति को फटकार दिया और उसका तिरस्कार किया। युवक को कुछ ठेस लगी और वह बीमार रहने लगा। लड़की अपने मायके चली गई और पुनः ससुराल जाने से इन्कार कर दिया। युवक के मन पर एक प्रहार हुआ और उसका जिगर बढ़ गया। उसे पीलिया रोग हो गया और अधिक कमजोर होने लगा। उसके पिता ने अच्छे-अच्छे डाक्टरों द्वारा उसका इलाज कराया और धीरे-धीरे वह स्वस्थ हो गया। उसकी दुर्बलता जाती रही और वह खेती-बारी का काम देखने लगा। अब

उसकी आयु १६ वर्ष की हो गयी। उसके पिता और माता ने उसका दूसरा विवाह एक अच्छी-सी लड़की से कर दिया। दैवयोग से इस बार विवाह के बाद जो लड़की आई वह बीस वर्ष की थी। वह बड़ी स्वस्थ, सुन्दर और आकर्षक थी। कुछ दिन तो पति-पत्नी का साथ चलता रहा, किन्तु लड़का छोटा था और लड़की बड़ी इससे मेल नहीं बैठा। लड़की के मन पर असन्तोष छा गया और लड़का हीन भावना से ग्रस्त हो गया।

युवक का पिता प्रौढ़, शरीर से स्वस्थ व रूपवान था। घर में अपने लड़के की बहू को नित्य देखता था। धीरे-धीरे उसके मन में विकार उत्पन्न हो गया और कालान्तर में युवक के पिता का अनैतिक सम्बन्ध युवक की पत्नी से हो गया। कुछ दिन तो यह मामला छिपे-छिपे चला, मगर भेद खुलता गया। अब तो वह लड़की अपने पति के सामने उसके कमरे से उठकर श्वसुर के कमरे में चली जाती और वहीं रात बिताती। युवक हीन भावना से ग्रस्त था। उसमें विरोध की शक्ति नहीं थी। वह अपनी निगाहों से इस दुराचार को देख रहा था और प्रतिरोध नहीं कर पा रहा था। इससे उसके हृदय पर गहरा आघात लगा और परिणामस्वरूप उसके हृदय पर ट्यूमर निकल आया।

मनोवैज्ञानिक ने अपनी चिकित्सा पद्धति द्वारा सभी भेदों का रहस्योद्घाटन कर दिया। उसने परिवार के सभी लोगों को बुलाकर उनके विचारों में परिवर्तन किया। युवक और युवती को समीप लाने के लिये अनेक मनोवैज्ञानिक उपाय किये और थोड़े दिनों के लिये उस दम्पत्ति को पहाड़ों पर ले गया और वहाँ उन्हें प्रसन्नतापूर्वक एक दूसरे से मिलने, घूमने, खेलने, खाने और विहार करने की सुविधा प्रदान करदी। युवक के आहार-विहार में समुचित परिवर्तन करके उसका स्वास्थ्य सुन्दर बना दिया। लड़की के विचारों में भी परिवर्तन आ गया और वह अपने पति से प्रेम करने लगी। दोनों प्रसन्नतापूर्वक जीवन यापन करने लगे। इस प्रकार वह युवक बिना किसी औषधि या आपरेशन के स्वस्थ हो गया। मनोवैज्ञानिक का मूलमंत्र था मन में छिपे विकारों को बाहर कर देना तथा प्रसन्नता का जीवन में प्रवेश करा देना। प्रसन्नता वह संजीवनी बूटी है जो भयंकर से भयंकर रोगों को भी दूर कर सकती है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने भी कहा है कि—

प्रसादे सर्व दुःखानां,
हानिरस्योपजायते।
प्रसन्न चेतसो ह्याशु
बुद्धिः पर्यवतिष्ठते

अर्थात्

पाकर प्रसाद पवित्र जन,
के दुःख कट जाते सभी।
जब चित्त नित्य प्रसन्न रहता,
बुद्धि दृढ़ होती तभी॥

अर्थ - प्रसन्नता के होने पर सम्पूर्ण दुःखों का नाश हो जाता है। प्रसन्न चित्त वाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है।

प्रसाद का साधारण अर्थ प्रसन्नता है। ऐसी प्रसन्नता जो हर्ष-विषाद में एक रस बनी रहती है। कठिन से कठिन दुःख में भी जिस पर उदासी की छाया नहीं पड़ती। जिसके अन्दर में प्रसन्नता का संगीत छिड़ा रहता है उस पर बाहरी सुख-दुःखों का प्रभाव नहीं पड़ता।

उपनिषद् कहती है कि—

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न,
विभेति कुतश्चनेति।

ब्रह्म आनन्दमय है। आनन्दरूप ब्रह्म को जान लेने वाला कभी किसी प्रकार के दुःखों से भयभीत नहीं होता। सदा प्रसन्न रहना मानसिक तप है। प्रसन्नता के अभाव में व्याकुलता, अशान्ति एवं घबड़ाहट रहती है। प्रसन्नता से शान्ति और स्थिरता आती है। प्रसन्नता में बुद्धि को कोई क्लेश, अभाव, राग-द्वेष अथवा विकार अशान्त नहीं कर पाते। प्रसन्न चित्त वाला सदा आनन्द के समुद्र में हिलोरें लेता है। कठिन से कठिन संकट में भी उसके मुख पर मुस्कराहट खेलती है। वह अपनी प्रसन्नता से दूसरों के हृदयों में जमे हुये मैल को धो देता है।

एक वकील साहब थे उनकी स्त्री थी। किसी दिन वकील साहब पत्नी पर नाराज हो गये और कुछ अपशब्द कह गये। पत्नी भी तेज तर्रार थी। उसने भी दो-चार कटु वचन बोल दिये। बस फिर क्या था, एक दूसरे के साथ बोलना बन्द हो गया। वकील साहब का भोजन उनके कमरे में आ जाता और वे वहीं खाकर कचहरी—चले जाते। वापस आते तो बाहर कमरे में बैठकर समय बिताते। कई दिन इस प्रकार बीत गये। एक दिन वकील साहब के मन में विचार आया कि यह क्या मुसीबत है। एक ही घर में हम रहते हैं। वह पत्नी है, मैं पति हूं। हम आपस में बोलते नहीं हैं। पत्नी के मन में भी यही विचार आया, परन्तु अब पहल कौन करे?

वकील साहब का एक आठ वर्ष का लड़का था। वह बड़ा ही हँसोड़ व प्रसन्न चित्त था। वह किसी कीर्तन में गया था और वहां से एक गाना सीख आया जिसकी पहली पंक्ति थी:—

मुख से कड़वे बोल न बोल।

एक दिन वकील साहब कचहरी से आये तो उनका लड़का उनके कमरे में आ पहुँचा और वहीं बैठकर गाने लगा –

मुख से कड़वे बोल न बोल।

वकील साहब ने सुना तो बोले– देख बेटा! यहां नहीं, अपनी मां के कमरे में जाकर गा।

बच्चा वहाँ से माँ के कमरे में पहुँचा और एक ओर बैठकर गाने लगा—

मुख से कड़वे बोल न बोल।

माँ ने यह बात सुनी तो मुस्करा उठी और बोली—देख बच्चे यह बात अपने पिताजी से जाकर कहा। बच्चा वहाँ से हँसता हुआ उठा और पिताजी के कमरे में जाकर गाने लगा—

मुख से कड़वे बोल न बोल।

वकील साहब ने कहा—अरे तू फिर आ गया। तुझे कहा था कि अपनी माँ के कमरे में जाकर गा। बच्चे ने हँसते हुये कहा कि बड़ी मुसीबत है। माँ के कमरे जाता हूँ तो वे कहती है कि पिताजी के कमरे में जाकर यह गीत गा और आपके कमरे में गाता हूँ तो आप कहते है कि माँ के कमरे में जाकर गा। मैं अब किसी के कमरे में नहीं जाऊँगा। दोनों कमरों के बीच में बैठकर गाऊँगा—

मुख से कड़वे बोल न बोल।

माँ अपने कमरे के द्वार पर खड़ी थी और पिता अपने कमरे के द्वार पर। दोनों इस गीत को सुनकर हँस पड़े। दोनों के मन का मैल कट गया। दोनों में मिलाप हो गया। यह है—प्रसन्नता का जादू। प्रसन्न चित्त लड़के ने अपने माता-पिता के मन के मैल को हँसते हुये गीत गाकर दूर कर दिया।

प्रसन्नता का मूल्यांकन नहीं हो सकता। यह बाजार में भी नहीं मिलता है। यह अपने अन्दर से उठने वाली वस्तु है। यदि आप प्रसन्नता प्राप्त करना चाहते हैं तो बाल-मचलन किया कीजिये और आपका हृदय आह्लाद से भर जायेगा।

अब अपने अगले लेख हम लेख में जीवन तत्त्व साधन की सातवीं क्रिया का वर्णन करेंगे।

हमारे शरीर में ध्यान लगाने के तीन स्थान हैं—हृदय, आज्ञाचक्र, ब्रह्मरन्ध्र। चित्त लगाकर प्रति दिन ध्यान करो तो मन वश में आ जायेगा ध्यान उस समय होता है जब मन विषय वासनाओं, कामनाओं एवं संकल्प विकल्पों और कल्पनाओं से परे हट जाय।

हो यह सुखी सकल संसार

[श्रीरामवचनजी द्विवेदी 'अरविन्द', साहित्यालंकार]

—०※०—

सभी सुखी हों सभी निरोगी, सभी भद्रता से हों युक्त।
पर-हित रत हों सभी सर्वदा, दुःख कष्ट से सब हों मुक्त॥
भद्र भावनामय सब जन हों, सब उरके दुर्गुण हों चूर्ण।
परम प्रसन्न रहें सब प्राणी, पावन प्रण सबके हों पूर्ण॥
सब दुर्जन सज्जन बन जायें, सज्जन पायें शान्ति महान।
सत्य-अहिंसा-क्षमा-दयाके, सुमन खिलें सब उर-उद्यान॥
सब जीवोंको क्षमा करें हम, वे भी क्षमा करें सविशेष।
जन जनमें हो मित्र-भावना, लेश नहीं हो मनमें द्वेष॥
नहीं राज्यकी हमें कामना, नहीं स्वर्ग की हमको चाह।
वर दो भगवन्! दूर करें हम आहत आर्तजनोंकी आह॥
पालकसुश हों प्रजा सुखी हों, सत्य-न्यायका हो व्यवहार।
मङ्गलमय हो सभी दिशाएँ, हो यह सुखी सकल संसार॥

—०+०—

सुधामयी

विषय रस नीरस सदा है विष भरा संतापमय।
विषय-रतिसे नित्य बढ़ता है, इसीसे शोक-भय॥
कृष्ण पद-रति है सुधामयि दिव्य अति माधुर्यमय।
तनिक-से आस्वादसे सब दूर होते शोक-भय॥

आत्म ज्ञान-योग

[श्री हीरालाल शास्त्री.]

जो मनुष्य कर्म वश दुर्बुद्धि होकर असंयत जीवन बिताते हैं वे बन्धन में ही पड़ते हैं और जो सज्जन संयत जीवन यापन करते हैं वे मुक्ति भागी होते हैं।

आजके संसार में प्रायः असंयत जीवन का प्रचार विशेष रूप से हो रहा है और जब से देश स्वतन्त्र हुआ है तब से अधिकतर मनुष्य असंयत जीवन बिताने में ही अपने को प्रतिष्ठित समझता है। प्रत्येक इन्द्रिय मनुष्य की शक्ति से बाहर हो रही है और आधुनिक समय में वही आदमी उन्नत समझा जाता है, जिसका जीवन असंयत हो। आप विचार करें तो आपको इन्द्रियाँ आपकी शक्ति से बाहर होती जा रही हैं जैसे जिह्वाको ही लीजिये इसरसना के दो काम हैं रस ग्रहण २ बोलना। इन दोनों कार्यों में जिह्वा मनुष्य की शक्ति के बाहर है। प्रातः काल सायं काल कम से कम दोनों समय तो चाय आवश्यक है ही और भी बीच-बीच। बल्कि कुछ सज्जनों को तो कई बार चाहिये कुछ सज्जन जो कि प्रायः अंग्रेजी पढ़े लिखे हैं, कहीं अच्छे वेतन पर नौकर हैं उनको तो सुबह खाट पर ही चाय न मिले तो शायद नित्य कर्म को उठ भी नहीं सकते हैं। इस प्रकार चाय के साथ में नमकीन, समोसा, पापड़-दाल मोठ-मुंगोड़ा और जाने क्या-क्या अवश्य होने चाहिये। इसी प्रकार पानी भी बरफ के बिना पीना कठिन है। अब आप ही देखें कि इन साधारण चीजों का ढंग जब इस प्रकार बिगड़ रहा है, तब और खाद्य पदार्थों और रसना से ग्रहण किये जाने वाले पदार्थों की गणना कराने में लेख कितना भी छोटा करें लम्बा ही होता जायगा। अब इनकी शरीर पर प्रतिक्रिया लिखें तो और लेख बढ़ता जायगा। इसी प्रकार कान, नाक, नेत्र त्वचा इनको भी आप समझ गये होंगे।

स्कन्द पुराण में लिखा है—

असंयतः कुबुद्धीनामात्मा बन्धाय कल्पते धीमद्भिः संयतः सोऽपि पदं दद्यादनामयम्।

वेद, स्मृति, पुराण, विद्या, उपनिषद् श्लोक, सूत्र, भाष्य तथा और भी वेदानुवचन जितना वाङ्मय है सभी ज्ञान के कारण है। साथ ही उपरोक्त शास्त्रानुसार ब्रह्मचर्य शम, दम, उपवास, श्रद्धा आदि सभी ज्ञान के ही कारण है। यह ज्ञान संयत जीवन बिताने वाले को ही प्राप्त होता है, आत्म ज्ञान का यह ज्ञान आधार होता है।

आत्म-ज्ञान हो जाने पर भी निरन्तर उसी में तल्लीन रहने वाला मनुष्य मुक्त हो सकता है और आज के उपरोक्त वातावरण

से तल्लीन मनुष्य क्या उस ज्ञान में दृढ़ रहकर मुक्ति लाभ कर सकता है। क्या इन्द्रियाँ मन और बुद्धिको उन विषयों की तरफ खीचने में कमी कर सकती है तब फिर चित्त वृत्तियों का एकाग्र होना असम्भव न भी कहा जाय तो कठिन अवश्य है।

कवि का वचन है:

कान निरन्तर गान तान,
सुनिबो ही चाहत।
नासा इतर फुलेल चहत,
फूलन को माला॥
त्वचा चहत सुख,
सजेसंग कोमल वन वाला।
रसना हू चाहत रहत,
नित खाटे मीठे चरपरे॥
नेत्र निरन्तर रूप रंग,
दिखबो ही चाहत।

इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय अपनी तरफ घसोटकर मनुष्य को कुबुद्धि बना कर मार्ग च्युत कर दे तब ज्ञान और मुक्ति कहाँ।

इस कारण स्कन्द पुराण ने स्पष्ट घोषणा की है कि आत्म ज्ञान से मुक्ति भी योग के बिना नहीं हो सकती इस प्रकार योग के बिना केवल ज्ञान से ही मुक्ति होनी असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। आत्मा को सब तरफ से हटाकर ब्रह्म में लीन रखने का नाम ही ध्यान है और यही योग है।

वन में रहने और नाना ग्रन्थों के चिन्तन से, दान, व्रत, तप, यज्ञ, आसन, शौच, मौन मन्त्राराधन आदि उपाय ऐसे नहीं हैं जिनसे मनुष्य योग सिद्धि कर सके।

जब तक साधक बनकर उपरोक्त उपायों का अवलम्बन उन्हीं के प्रकार से नहीं करेगा तब तक योग की प्राप्ति दुर्लभ है।

विषय और इन्द्रियों के संयोग को योग कहना चाहिये परन्तु उसमें यह तो विचारिये कि जो मनुष्य विषयासक्त है उनके लिये ज्ञान कहने योग्य हो भी जाय परन्तु योग तो हो ही नहीं सकता क्योंकि इन्द्रियाँ न विषय से हटेंगी न सदाभ्यास वाली लगन हो सकती है। तब योग सिद्धि तो केवल आकाश पुष्प के समान कल्पना मात्र ही समझिये।

इसी आधार पर परम भक्त श्री तुलसी दास जी ने रामचरित मानस में कहा है:—

कहहिं सन्त मुनि वेद पुराना।
नहि कछु दुर्लभ ज्ञान समाना॥
सोइ मुनि तुम सन कहेउ गुसाईं।
नहिं आदरे हु भगति की नाईं॥
ज्ञान पंथ क कृपान कै धारा।
परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जो निर्विघ्न पथ निर्वहई।
सो कैवल्य परम पद लहई॥
अति दुर्लभ कैवल्य परम पद।
सत पुरान निगम आगम वद।

इत्यादि कारणों से योग सिद्धि आवश्यक बतलाई है ज्ञान के साथ योग होने पर मुक्ति

सुलभ है आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान, समाधि यह योग के छः अंग है :—

आसनं प्राण संरोधः,
प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यान समाधिरेतानि,
योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥

संसार में जितने भी प्राणी है उतने ही आसन परमयोगिराज, योग सञ्चालक श्री ठाकुर जी द्वारा बताये गये हैं उनमें से जिस आसन को भी सिद्ध करले वही पर्याप्त है।

स्वस्तिकासन, पद्मासन, सिद्धासन आदि मुख्य हैं जो भी साधक सिद्ध करे।

प्राणायाम के भेद—

प्राणायाम तीन प्रकार का होता है १ मन्द २ मध्यम ३ उत्तम। १२ मात्रा मन्द प्राणायाम की होती है, २४ मात्रा मध्यम प्राणायाम, ३६ मात्रा उत्तम प्राणायाम इन प्राणायामों में मन्द में पसीना आवे मध्यम में कम्पन हो और उत्तम में विषाद हो।

हठ पूर्वक का निषेध—

प्राण का हठपूर्वक निरोध करने से रोम-कूपों से होकर निकलने से देह विदारण करता है और कुष्ठ इत्यादि रोगों को भी रक्त पुष्टि करके कर देता है।

हठान्निरुद्धः प्राणोऽयं,
रोम कूपेषु निःश्वरेत।
देह विदार यत्येष,
कुष्ठादि जनयत्यपि ॥

शनैः शनैः वनके जीव हाथी, सिंह आदि जिस प्रकार धीरे-धीरे वश में करके ग्रहण किये जाते है इसी प्रकार वायु में विश्वास द्वारा मृदुता धीरे धीरे पैदा करनी चाहिये।

तत्प्रत्यायपितव्योऽसौ ,
क्रमेणारण्य हस्तिवत्।
वन्यो गजो गजारिर्वा,
क्रमेण मदुता भियात् ॥
करोति शास्त्र निर्देशं,
नचतं परिलंघयेत्।
तथा प्राणो हृदिस्थो,
अयंयोगिनां क्रम योगतः।
गहीत ! सेव्य मानस्तु,
विश्रम्भ सुपगच्छति ॥

इच्छानुसार वायु को रोक सके, अग्नि प्रदीप्त हो, नाद की अभिव्यक्ति हो आरोग्य हो यही नाड़ी शुद्धि के लक्षण है।

१२ प्राणायाम का एक प्रत्याहार होता है, और १२ प्रत्याहार की एक धारणा, तथा १२ धारणा का ध्यान और १२ ध्यान की समाधि कही जाती है।

समाधि के बाद अनन्त स्व प्रकाश ज्योति के दर्शन होते है।

अतः ज्ञान के साथ योग साधन होने पर ही मुक्ति लाभ सुलभ है इस कारण योग और ज्ञान के लाभ हानि सभी समझकर मनुष्य दत्त चित्त होकर मनुष्य योग सिद्धि कर लेगा तो सफलता स्वयं सिद्ध समझिये। केवल ज्ञान से मुक्ति अवश्य प्राप्त होती है परन्तु उसमें थोड़ी भूल से क्रमशः विघ्न उपस्थित होने का भय अवश्य रहता है।

सूफी-साधना और योग

--※--

० श्री सुरेन्द्र बहादुर एम. ए० (दर्शनशास्त्र)

संसार के प्राय: सभी धर्मों के दो रूप होते हैं: पहला बाह्य तथा दूसरा आन्तरिक। बाह्य रूप बाह्याचार मात्र होता है किन्तु आन्तरिक रूप उसका मूल रहस्य। बाह्याचार धर्म का प्रतीक मात्र होता है उसका वास्तविक अस्तित्व नहीं। बाह्याचार की उपमा शरीर से तथा आन्तरिक रूप की उपमा आत्मा से दी जा सकती है। आत्मा वास्तविक अस्तित्व होता है और शरीर उसके कर्म तथा भोग का एक अस्थाई साधन। अत: शरीर एक साधन है साध्य नहीं। वह आत्मा का सेवक है। ठीक इसी प्रकार किसी धर्म का बाह्याचार वास्तविक धर्म नहीं होता वास्तविक धर्म तो उसके आन्तरिक रूप अर्थात रहस्यवाद में निहित होता है। यह ठीक है कि सभी धर्म परमात्मा की ओर ले जाते हैं। अर्थात सभी धर्मों का एक मात्र लक्ष्य है परम सत्य की प्राप्ति। किन्तु यह अलौकिक प्राप्ति प्रत्येक धर्म के मौलिक सिद्धान्तों पर अर्थात् उस धर्म के गूढ़ रहस्यों पर आधारित रहते हैं। केवल बाह्याचार को ही सम्पूर्ण धर्म मान लेना आत्मा रहित शरीर को ही सम्पूर्ण अस्तित्व मान लेने के तुल्य है।

भारतवर्ष में वैदिक काल में बाह्याचार को ही जब सम्पूर्ण धर्म मान लेने की भूल हुयी तो यज्ञों की बाढ़ आ गई, कर्मकाण्ड का बोलबाला हो गया, जाति-विग्रह हुआ वर्ण व्यवस्था की सृष्टि हुई आश्रमों की व्यवस्था हुई और नाना वर्णों तथा आश्रमों के लिये आचार संहितायें बन गईं। किन्तु शीघ्र ही तत्कालीन ऋषियों और मनीषियों ने इन बाह्याडम्बरों की निरपेक्ष उपादेयता पर सन्देह किया और फलत: उन्होंने धर्म के रहस्यों को समझने का प्रयत्न किया। उनके इस प्रयत्न के परिणामस्वरूप उपनिषदों आरण्यकों और योग-शास्त्रों की रचना हुई। यही रचनायें हिन्दू धर्म के मूल तत्व को उद्घोषित करने वाली तथा परमसत्य की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करने वाली सिद्ध हुईं। हिन्दू धर्म के यज्ञादि बाह्याडम्बरों तथा उनमें होने वाले अपव्यय, व्यर्थ परिश्रम तथा निर्दोष मूक पशुओं की बलियों को देखकर गौतम बुद्ध के मूल धर्म तत्वान्वेषी हृदय में हिन्दू धर्म के प्रति विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया और उन्हें सत्य का रहस्य जानने तथा उसे प्राप्त करने की विधि को खोज निकालने के लिये प्रवृत्त कर दिया। यही नहीं, जब गौतम बुद्ध ने देखा कि आत्मा के अस्तित्व को मानने के कारण ही ब्राह्मण वर्ग लोगों को आत्मा के लिये स्वर्ग में स्थान सुरक्षित करने का लालच देकर यज्ञ रूपी खोखले बाह्याचार की ओर प्रेरित कर रहा है तो उन्होंने धर्म की इस विकल्पित आकृति को मिटाने के लिये, पूरे रूप में आत्मा के अस्तित्व को ही स्वीकार करने से इनकार कर दिया। इस प्रकार बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध सिद्धान्त नैरात्म्यवाद प्रकाश में आया।

गौतम बुद्ध का उदाहरण धर्म के सम्पूर्ण बाह्याचार के प्रति विद्रोह का उदाहरण है। किन्तु संसार में कुछ ऐसी रहस्यवादी चिन्तन धारायें

अंकुरित एवं विकसित हुई जो बाह्याचार के विरोध में नहीं वरन् उनकी चरम सत्योपलब्धि की अक्षमता के कारण थी। वेदान्त का ज्ञान मार्ग, वैष्णवों का भक्ति मार्ग, गीता का कर्म योग, पतञ्जलि का राजयोग, बौद्धों का तन्त्र मार्ग तथा मुसलमानों की सूफी साधना शैवों तथा शाक्तों की तान्त्रिक साधनायें—ये सभी प्रकार की रहस्यवादी विचारधाराओं से ओत प्रोत साधनायें इसी कोटि में आती हैं।

इस्लाम धर्म के उद्‌भव और प्रसार के थोड़े ही काल-पश्चात् मुसलमानों में एक ऐसा वर्ग दिखाई देने लगा जो धर्म के बाह्याचारों पर अधिक जोर न देकर धर्म के सूक्ष्म तत्व की खोज में लग गया। इस वर्ग के लोग धीरे-धीरे तत्त्व-चिन्तन की ओर बढ़ने लगे और बाह्याचार से क्रमशः दूर हटने लगे। ये लोग सूफी शब्द से अभिहित हुए और इनकी अलहक्क (परम सत्ता) को पाने की साधना का नाम सूफी साधना पड़ा। ये लोग धर्म के बाहरी आचार व्यवहार को आडम्बर कहने लगे और यह मानने लगे कि उस परम सत्य को प्राप्त करने की साधना अन्तर की वस्तु है। सूफी साधक अपनी साधना ईश्वर के प्रति ऐकान्तिक प्रेम से प्रारम्भ करता है। प्रेम की प्रगाढ़ता में वह अपनी खुदी (अहं) को मिटाकर उस परम सत्ता का साक्षात्कार करता है। उसकी समस्त सांसारिक इच्छाएँ और वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं वह सत्य के साथ एकमेक हो जाता है। उसे परम सत्य की व्यापकता का अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है और वह उसको सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में ओतप्रोत देखने लगता है। उसको गीता का "यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति, तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति' का सिद्धान्त प्रत्यक्ष हो जाता है। स्वामी रामतीर्थ जी का निम्नलिखित कथन उस पर पूर्णरूपेण चरितार्थ होता है :—

इश्क का मनसब लिखा
जिस दिन मेरी तकदीर में।
आह की नगदी मिली
शोहरा मिला जागीर में॥
न है कुछ तमन्ना न कुछ जुस्तजू है
कि वहशत में साकी न सागर न बू है।
मिली दिल को आँखें जभी मारफत की
जिधर देखता हूं सनम रूबरू है॥
गुलिस्तां में जाकर हर इक गुल को देखा
तो मेरी ही रंगत व मेरी ही बू है।
मेरा-तेरा उट्ठा हुए एक ही हम,
रही कुछ न हसरत न कुछ आरजू है॥

सूफी साधकों के लिये धर्म का बाह्याचार पालन निरर्थक है। ध्यान स्मरण आदि के दीर्घ कालिक अभ्यास से वे अपने अहं को भुलाकर मनुष्य तथा परम सत्ता के बीच के व्यवधान को मिटा देते हैं। किन्तु वे इसे गुरु कृपा और भगवत्कृपा के बिना असम्भव मानते हैं। सूफियों की सिद्धावस्था अद्वैत वेदान्तियों की सिद्धावस्था जैसी ही प्रतीत होती है। परन्तु दोनों में एक अन्तर है। वेदान्ती सिद्ध ब्रह्म अर्थात् परम सत्ता के साथ तद्रूपता का

अनुभव करके अपने को ब्रह्म मान बैठता है और कह उठता है 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात मैं ब्रह्म हूँ। किन्तु सूफी तत्समान अनुभूति के पश्चात अपने को ब्रह्म नहीं वरन इन्सानुल-कामिल(पूर्ण-मानव)मानता और अनलहक (मैं ब्रह्म हूँ) कहने से बाज आता है, क्योंकि उसके पास 'अहं'-सूचक कुछ शेष ही नहीं रहता पूर्ण मानव परम सत्ता की प्रतिच्छवि है। और उसके सबसे अधिक समीप है। वह मानव रूप में ईश्वर है। उसी के द्वारा ईश्वर अपने आप को देखता है। अथवा, उसी में वह अपने आपका दर्शन करता है। पूर्णमानव मनुष्य और परमात्मा के बीच मध्यस्थता करता है। वही साधकों का पथ प्रदर्शक और मुर्शिद(गुरु) है।

सूफियों की साधना को अच्छी प्रकार समझने के लिए उनके जगत तथा आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त को भी संक्षेप में समझ लेना आवश्यक है। यहाँ हमसृष्टि रचना क्रम के विस्तार में न जाकर जगत् के अस्तित्व के बारे में ही विचार करेंगे। परमात्मा एक है अल-हक्क (परम सत्य) है। यह संज्ञा भी उसके लिए ठीक नहीं बनती। यह तो केवल उसकी ओर इंगित करने के लिए है। वास्तव में वह किसी परिभाषा में नहीं बांधा जा सकता। उसे कोई संज्ञा देना उसे सीमित करना है। वह अनिर्वचनीय है वह वही है जो वह है उसकी उपमा किसी से नहीं दी जा सकती। विविध नाम रूपात्मक जगत उस परम सत्य की अभिव्यक्ति मात्र है उसका अपना वाह्य प्रकाशन है। यह संसार उसकी सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता, निःसीमता दयालुता, क्षमा आदि गुणावलियों का पुंज है। वह विशुद्ध स्वरूप परम सत्ता जब अपने को अभिव्यक्त करता है तब नाना नाम और रूप-गुण प्रकट होते हैं। अभिव्यक्ति से पूर्व यह जगत परमात्मा से अभिन्न था। परमात्मा पहले भी अव्यक्त था और अब भी व्यक्त होने पर भी अव्यक्त ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूफियों का जगत सम्बन्धी सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत के तत्सम्बन्धी सिद्धान्त से बहुत कुछ अंशों में मिलता जुलता है।

सूफी इस संसार को नाशवान और क्षणभंगुर तथा परमात्मा को निरपेक्ष अनन्त परमसत्य परम-सौन्दर्य और परम कल्याण मानते हैं सूफियों द्वारा जगत की उत्पत्ति के कारण के बारे में दी गई व्याख्या हिन्दू धर्मशास्त्र के एकोहं बहुस्यामि, के समान ही है। वे इसके लिए एक हदीस का प्रमाण देते हैं "कुन्तो कनजन् मखफीयन् फाहबबतो अन ओरिफो फखलकतुल खल्क" अर्थात मैं एक गुप्त कोश था फिर मैंने इच्छा की कि लोग मुझे जानें। इसलिए मैंने सृष्टि की रचना की।

यह सृष्टि परमात्मा की अभिव्यक्ति है किन्तु यह उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं है। अपनी पूर्णता की अभिव्यक्ति के लिये उसने मनुष्य की अर्थात आत्मा की सृष्टि की जो परमात्मा के प्रतिरूप जैसा है वह अपने आप में आलमे सुग्र (क्षुद्र जगत) तथा आलमे कुब्र (वृहत जगत) सबको धारण किए हुए है। यह सिद्धान्त योग शास्त्र के 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' अर्थात जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है के समान है। सूफियों का कहना है कि मनुष्य की आत्मा में परमात्मा के सभी गुण प्रति-

बिम्बित होते हैं अतः यदि कोई मनुष्य आत्मा को जान ले तो वह परमात्मा को जान लेता है। आत्मा में ही प्रतिष्ठित होने का उपदेश योग दर्शन भी देता है। मनुष्य पूर्णता प्राप्त करता है और सिद्ध संज्ञा का अधिकारी बनकर ईश्वर के सभी ऐश्वर्यों को हस्तगत कर लेता है और अपार शक्ति सम्पन्न हो जाता है। सूफियों का लक्ष्य है इन्सानुल-कामिल (पूर्ण मानव) की स्थिति को प्राप्त करना क्योंकि पूर्ण मानव में ही परमात्मा अपने आपको पूर्ण रूप से प्रकाशित करके अपने आपको जानता है। पूर्ण मानव (इन्सानुल कामिल) परमात्मा के साथ एक एकत्व का बोध करता हुआ उसको तथा प्रकृति की भी सारी शक्तियों का प्रत्यक्ष कर लेता है। योग दर्शन बतलाता है कि योगी आत्म स्थित लाभ के साथ ही साथ प्रकृति के सभी विश्लेषणों को समझ कर तथा प्रकृति की सारी शक्तियों का साक्षात्कार करके उन पर अधिकार प्राप्त कर लेता है। यहाँ मैं यह बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि सूफियों के सभी सिद्धान्त इस्लाम धर्म के ग्रन्थों से अनुमोदित हैं और वे अपने सभी सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए कुरान तथा हदीसों का हवाला देते हैं। अतः सूफी मत इस्लाम के बाहर की वस्तु नहीं है। उपर्युक्त विवेचना के आधार पर हम देखते हैं कि इस्लाम धर्म के मूल तत्त्व (जैसी कि सूफियों ने उनकी व्याख्या की है) हिन्दू - धर्म के मूल तत्वों से कहीं भी विरोध नहीं रखते। यदि विरोध या अन्तर कहीं दिखाई देता है तो वह है वाह्याचार अथवा बाह्याडम्बर में जिसे मूलधर्म तत्त्व कदापि नहीं माना जा सकता।

सूफियों के उपर्युक्त सिद्धान्तों तथा सनातन पंथी इस्लाम के सिद्धातों में कहीं कहीं बहुत अन्तर भी पाया जाता है। इसका प्रधान कारण है सूफी मत पर भारतीय दार्शनिक चिन्तन धारा का स्पष्ट प्रभाव, फिर भी सूफी अपने को इस्लाम के अन्तर्गत बनाये रखने के लिए अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए कुरान और हदीस का प्रमाण देते हैं एवं उनकी व्याख्या अपने ढंग से करते हैं। इस व्याख्या की आवश्यकता उन्हें इसलिए पड़ी कि सातवीं शताब्दी में भारतीय दर्शन अरब देशों में पहुंच गया था और वहां बुद्धिवादियों को प्रभावित कर चुका था। सूफियों का ईश्वर-प्रेम और ईश्वर के साथ तद्रूपता प्राप्त करना सनातन-पंथी इस्लाम को स्वीकार नहीं है। संयास और फकीरी जीवन को सनातन पंथी इस्लाम अनावश्यक किन्तु सूफीमत आवश्यक मानता है। नमाज, हज, रोजा इत्यादि बाह्याचार को सनातन पंथी इस्लाम आवश्यक मानता है, किन्तु सूफीमत बाह्याचार के स्थान पर आन्तरिक पवित्रता को मानता है। सनातन-पंथी इस्लाम यह नहीं मानता कि मनुष्य और परमात्मा के बीच व्यवधान कभी मिट सकता है। किन्तु सूफी मानता है कि मनुष्य और परमात्मा के बीच का व्यवधान प्रेम और साधना के द्वारा समाप्त हो जाता है और परमात्मा को प्राप्त करके उसके साथ अंतरंगता हो सकती है सनातन-पंथी इस्लाम परमात्मा के 'सर्वातीत' रूप पर अधिक जोर देता है। किन्तु सूफीमत उसके सर्वगत रूप पर अधिक जोर देता है।

हम ऊपर यह कह चुके हैं कि सूफी सिद्धान्तों पर भारतीय दर्शनों का काफी-प्रभाव पड़ा है।

इसके प्रमाण-स्वरूप कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :— 'वहदतुल-वजूद' के सिद्धान्तानुसार एकमात्र सत्ता ईश्वर ही है और यह संसार उसकी अभिव्यक्तिमात्र है। यह सृष्टि पुनः उसी में लय हो जाती है। 'इन्ना लिल्लाह व इन्ना इलैहि राजेऊन।' अर्थात्, हमलोग अल्लाह से उत्पन्न हुए हैं और पुनः उसी में लौट जायेंगे। तैत्तिरीयोपनिषद का मंत्र है— 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति।' अर्थात् ये सब प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके सहारे जीवित रहते हैं और प्रयाण करते हुए जिसमें प्रवेश करते हैं उसे जानने की इच्छा कर। वही ब्रह्म है। 'एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्' अर्थात् यही स्थान है जिससे सब उत्पन्न होते हैं और फिर उसी में लौट जाते हैं। अब प्रश्न उठता है कि आखिर यह सृष्टि बनी क्यों? इसका उत्तर देते हुए सूफी एक हदीस का उद्धरण देते हैं— "मैं एक छिपा हुआ खजाना था, फिर मैंने इच्छा की कि लोग मुझे जानें। इसलिये मैंने सृष्टि को बनाया।" ठीक इसी प्रकार का उत्तर तैत्तिरीयोपनिषद भी देता है— "सोऽकामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति।"

गुरु और शक्ति-संचार

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि सूफी-साधना में गुरु को कितना बड़ा स्थान दिया गया और सूफियों के गुरुवाद पर भारतीय-योग शास्त्रों तथा अन्यान्य साधनाओं का कितना प्रभाव था। सूफी-साहित्य में गुरु के लिए मुर्शिद, शेख और पीर शब्दों का प्रयोग हुआ है। मुर्शिद को सर्वज्ञ, सर्व समर्थ और परम कृपालु माना गया है। मुर्शिद वह सब कुछ देखता है जो परमात्मा के राज्य में होता है। इस सृष्टि में कोई भी ऐसी बात या घटना नहीं होती जिससे वह अनजान हो। रीज के अनुसार सूफी अपने मुर्शिद को ईश्वर से भी बढ़कर मानता है। इसलिए साधक को निर्देश है कि वह जो कुछ भी करे जो कुछ भी सोचे, मुर्शिद को हर समय सामने रखे। उसकी हर बात मुरीद के लिए कानून है, उसकी प्रत्येक आज्ञा मुरीद (शिष्य) के लिए पालनीय है चाहे वह शरियत (इस्लामी नियमों) के विरुद्ध ही क्यों न हो। 'मंत्र मूलं गुरोर्वाक्यं' का भारतीय सिद्धान्त सूफियों को पूर्ण रूप से मान्य है। सूफी-साधना में गुरु को इतना ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है जितना भारतीय हठयोग, सिद्धयोग और बौद्धों की तन्त्र-साधना में। मुर्शिद के बिना सूफी-साधना के मार्ग पर पैर भी नहीं रखा जा सकता। पद-पद पर उसकी कृपा और उसके निर्देश की आवश्यकता है। साधना के एक सोपान से दूसरे सोपान पर मुरीद को मुर्शिद ही पहुंचाता है। साधक केवल अपने प्रयत्न से कुछ भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। साधना के सभी सोपानों को पार कर लेने के पश्चात् गुरु की कृपा के बिना परमात्मा से मिलन भी सम्भव नहीं हो सकता। अल-हुजवीरी ने अपनी पुस्तक 'कश्फ अल-महजूब' में लिखा है कि जो साधक मुर्शिद की मदद के बिना सूफी-मार्ग पर चलने की कोशिश करता है ढोंगी समझा जाता है। गुरु का सहारा लिये बिना आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वाला मानो शैतान को अपना पथ-प्रदर्शक माने हुए है। ऐसे साधक की उपमा उस पेड़ से दी गयी है जो माली की उपेक्षा के कारण या तो कोई फल

नहीं देता या कड़वा फल देता है।

साधना के क्रम में साधक अपने मुर्शिद का बराबर चिन्तन व ध्यान करता है। यहीं से सूफी-साधना का प्रारम्भ होता है। गुरु की अलौकिक शक्ति सर्वदा मुरीद शिष्य के साथ-साथ रहती है, उसकी रक्षा करती उसका पथ-प्रदर्शन करती है और उसका ध्यान एकाग्र करने में उसकी सहायता करती है। अन्त में वह गुरु में लय हो जाता है। यह साधना का प्रथम सोपान है। इसके पश्चात साधना के दूसरे सोपान में मुर्शिद अपनी शक्ति से उस साधक को अपने सम्प्रदाय के आदि गुरु (पीर) का दर्शन कराता है और फिर वह साधक पीर में लय हो जाता है। 'पीर में लयता' दूसरे सोपान की पूर्णता है। इस अवस्था में साधक पीर में लय होकर उसकी सभी दिव्य शक्तियों का अधिकारी बन जाता है। इसके पश्चात् मुर्शिद उस साधक को अपनी शक्ति से पैगम्बर का साक्षात्कार कराता है। इस अवस्था में यह साधक सभी वस्तुओं का ही दर्शन करता है और पैगम्बर में लय हो जाता है। 'पैगम्बर में लयता' तीसरे सोपान की पूर्णता है। चौथे सोपान में मुर्शिद की कृपा से ही वह साधक परमात्मा का साक्षात्कार करता है और सभी वस्तुओं में परमात्मा का दर्शन करता हुआ परमात्मा में लय हो जाता है। 'परमात्मा में लयता' साधना का चौथा और अन्तिम सोपान है।

उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूफी-साधना में गुरु का स्थान तथा गुरु-शिष्य का सम्बन्ध ठीक उसी प्रकार देखने को मिलता है जिस प्रकार भारतीय साधनाओं में। गुरु का इतना ऊंचा महत्व तथा गुरु-शिष्य का इस प्रकार का सम्बन्ध न तो इस्लाम के पूर्व अरब में ही था और न कभी यूरोप आदि पश्चिमी देशों में ही था। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि सूफी-साधना की यह विशेषता भारतीय साधनाओं विशेषकर भारतीय योग की ही देन है। श्वेताश्वतर उपनिषद में लिखा है—"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥"

सूफियों का कहना है कि गुरु अपने मुरीद में आध्यात्मिक शक्ति-संचार करने की क्षमता रखता है। मुर्शिद द्वारा मुरीद में शक्तिपात की क्रिया को तवज्जह कहते हैं। यह क्रिया प्रायः दीक्षा के समय होती है। इसी शक्ति को पाकर साधक ऊपर वर्णित साधना के क्रमों को क्रमशः पार करता हुआ परमात्मा से एकमेक हो जाता है। गुरु में ऐसी सामर्थ्य होती है कि यदि वे किसी अजनबी को भी दया दृष्टि से देख ले तो उसमें स्वतः शक्तिपात हो जाता है और वह परम श्रेय का भागी बन जाता है। हुज्वीरी ने महान संत जुनैद के जीवन की एक घटना के बारे में लिखा है कि एक बार जुनैद ने बगदाद में एक ईसाई नवयुवक को बड़ी करुणा-दृष्टि से देखा। उसके थोड़ी देर बाद वह युवक लौट कर उनके पास आया और उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली। आगे चलकर उस युवक की गणना महान सन्तों में हुई। भारतीय योग शास्त्रों में इस प्रकार के शक्ति-संचार का वर्णन बहुत प्राचीन काल से ही देखने को मिलता है कुलार्णव तंत्र में लिखा है :—

**शक्तिपातानुसारेण शिष्यो ऽनुग्रहमर्हति ।
यत्र शक्तिर्नपतति तत्र सिद्धिर्नजायते ।।**

अर्थात् शक्तिपात के अनुसार ही शिष्य गुरु के अनुग्रह को प्राप्त करता है । 'जब तक गुरुदेव शक्तिपात नहीं करते तब तक सिद्धि पाना असम्भव है सूफीमत में मुरीद (शिष्य को स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि "वह इमाम (गुरु) के हाथों में अपने आपको सब भी भाँति छोड़ दे । " गुरु के पाद पद्मों में इस प्रकार का निरुपाधि आत्म-समर्पण ही शिष्य की सफलता का रहस्य है । गुरुगीता कहती है : — 'गुराराधनं कार्यं जीवत्वं च निवेदयेत । " अर्थात गुरु की आराधना में अपने जीवन को भी अर्पण कर देना चाहिए 'कर्मणा मनसा वाचा सदभिराराधयेद्गुरु' अर्थात् सच्चे भाव कर्म से मन से और वाणी से गुरु की आराधना करनी चाहिए । इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि सूफीमत में गुरु का ईश्वर से भी बड़ा स्थान जो देखने को मिलता है वह भारतीय योगियों के कारण ही है । अन्यथा अरब और पश्चिमी देशों में 'गुरु-भक्ति' एक अत्यन्त अपरिचित शब्द था 'गुरु-भक्ति सदा कुर्यात श्रेयसे भूयसे नरः' का उपदेश तो केवल योगियों (विशेष रूप से सिद्धि-मार्गियों) को ही ज्ञात था ।

सूफियों की सभी साधनाओं का एक मात्र लक्ष्य है अहं को मिटाकर परमात्मा का साक्षात्कार करना एवं उसके साथ एकत्व स्थापित करना । जब तक अहं नही मिटेगा तब तक परमात्मा की प्राप्ति असम्भव है । जब अहं मिट जाता है तब साधक उस सर्वोच्च अवस्था में जा पहुंचता है जिसे आत्मा और परमात्मा की समतावस्था कहा जाता है । योग दर्शन के पाठक इस बात को भली भांति जानते है कि अहं चित्त की एक वृत्ति है । चित्त में उत्पन्न होने वाली सभी वृत्तियों में 'अहं' की उत्पत्ति सर्वप्रथम हुई है । 'अहं' की वृत्ति के पश्चात ही अन्य सारी वृत्तियां सम्भव हैं । किन्तु जिस प्रकार उत्पन्न होने वाली वृत्तियों में इसका स्थान सर्वप्रथम है उसी प्रकार समाप्त होने वाली वृत्तियों में इसका स्थान सबसे अंतिम है । 'अहं' की समाप्ति के साथ ही सारी वृत्तियाँ निःशेष हो जाती हैं ।

'अहं' एक ऐसी वृत्ति है जिसे अन्य सारी वृत्तियों का आधार कहा जा सकता है । जिस प्रकार आधार के अभाव से आधेय की कल्पना नहीं की जा सकती , उसी प्रकार अहं के अभाव में अन्य किसी भी वृत्ति की सत्ता कल्पनातीत हो जाती है । इसीलिए योगदर्शन में सारी चित्तवृत्तियों का निरोध करने की सलाह दी गयी है । महर्षि पतंजलि ने तो योग की परिभाषा ही की है 'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः' अर्थात चित्त-वृत्तियों का निरोध योग है । चित्तवृत्तियों के निरोध के परिणाम-स्वरूप योगी उस समाधि की अवस्था में पहुंच जाता है जिसे जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था कहते हैं । जीवात्मा और परमात्मा की यह समतावस्था सूफियों का भी चरम लक्ष्य है । वे इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए अपने अहं (फलतः चित्त की सारी वृत्तियों) का निरोध करने का प्रयत्न करते है । सूफियों का कहना है कि मनुष्य की सभी भीतरी वृत्तियों की जड़ उसका

(क्षुद्र आत्मा अर्थात वासनाओं सहित मन या वृत्तियों सहित चित्त) है। सूफियों का कहना है कि यह नफ्स मनुष्य को सतत अधोगति की ओर ले जाने वाला, साधना के मार्ग का सबसे बड़ा विघ्न है। अतः बिना नफ्स पर विजय प्राप्त किये परमात्मा का साक्षात्कार तो दूर परमात्मा के मार्ग पर चलना असम्भव है क्योंकि यह मनुष्य को पतन की ओर ले जाने वाला है। जुनैद ने कहा है कि नफ्स के हुक्म के अनुसार जीवन यापन करने वाला व्यक्ति भी वास्तविक काफिर है। पैगम्बर मुहम्मद साहब ने 'मुजाहदत अल-नफ्स' अर्थात क्षुद्रात्मा के विरुद्ध संघर्ष को सबसे ऊंचा धर्म-युद्ध करार दिया है। कभी-कभी योग-साधकों को ध्यानाभ्यास काल में अपना ही रूप काले वर्ण का नटखट शैतान सा दिखाई देता है। वही सूफियों की भाषा में 'नफ्स' तथा योगियों की भाषा में कलुषित मन है। नफ्सप्रधान व्यक्ति को योग शास्त्र में विक्षिप्त चित्त वाला मध्याकारी कहा जाता है। ऐसे मनुष्य का चित्त सांसारिक वासनाओं और रागद्वेष से कलुषित रहता है। अतः उसके लिये अभ्यास और वैराग्य कठिन वस्तुएं हैं।

जिसे योगी चित्त का शुद्ध होना कहते हैं उसी को सूफी 'नफ्स पर नियन्त्रण करना' कहते हैं। इस नियन्त्रण को सूफियों ने 'अल मौतुल अबयाज' अर्थात् सफेद मौत कहा है। चित्त की शुद्धि के लिए योग-मार्ग में क्रियायोग का विधान किया गया है। क्रियायोग की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है— 'तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' अर्थात् तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान क्रियायोग है। तप के द्वारा नफ्स पर विजय प्राप्त करने की क्रिया सूफियों में भी देखी जाती है। इसके लिए वे उपवास, एकान्तसेवन, मौन, ईश्वर के नाम का जप आदि पर बहुत जोर देते हैं। कुछ सूफियों का जैनियों के समान ही यह विश्वास है कि उपवास के अभ्यास से आत्मा का सारा कलुष धीरे-धीरे मिट जाता है और नफ्स शुद्ध और पवित्र हो जाता है। नफ्स का दमन किये बिना कोई भी मनुष्य ईश्वर की उस दया का अधिकारी नहीं बनता जिसे पाकर वह संसार के बन्धनों को तोड़ने में समर्थ होता है और परमात्मा के दर्शन का लाभ प्राप्त करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अंतःकरण अथवा चित्त की शुद्धि के लिए सूफियों द्वारा अपनायी गयी प्रक्रिया पर योग तथा अन्यान्य भारतीय साधनाओं का काफी प्रभाव है।

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि अहं को (अतएव चित्त की सारी वृत्तियों को) मिटाकर परमात्मा के साथ ऐक्य स्थापित करना सूफियों का चरम लक्ष्य है। यह ऐक्य 'फना' और 'बका' की स्थिति में प्राप्त होता है। अतः फना तथा बका की अवस्थाओं की प्राप्ति सूफी साधना का एक मात्र उद्देश्य है। इन अवस्थाओं का विवेचन करने के पूर्व हम योग की परिभाषा तथा उसके लक्ष्य को थोड़ा और अच्छी प्रकार समझ लें तो ठीक होगा और उससे हमें फना तथा बका दोनों को समझने में सरलता होगी। महर्षि श्री पतंजलि जी ने 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' कह करके योग शब्द की अभिव्यक्ति की है। किन्तु योग का

पर्यायवाची शब्द समाधि भी है— यह बात शास्त्रीय प्रमाणों से सिद्ध होती है। उपनिषदों में समाधि की परिभाषा इस प्रकार मिलती है— 'समाधि समतावस्था जीवात्मा परमात्मनः' अर्थात् जिस अवस्था में जीवात्मा और परमात्मा का एकात्मभाव स्थापित होता है उस अवस्था को समाधि कहते हैं। वास्तव में योग शब्द का अर्थ समाधि ही मानना चाहिए क्योंकि योग शब्द युज् धातु से बना है जिसका अर्थ है 'मिलना'। अतः जिस अवस्था में जीवात्मा और परमात्मा का मिलन होता है वह समाधि अथवा योग है। किन्तु हम योग का अर्थ-समाधि न मानकर चित्त-वृत्ति-निरोध ही मानें तो भी कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। क्योंकि चित्त-वृत्ति-निरोध का परिणाम समाधि है। योगदर्शन का सूत्र है।

'तस्यापि निरोधे सर्व निरोधान्निर्बीजः समाधिः।'

जब ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाला संस्कार अन्य सभी व्युत्थान के संस्कारों को रोक देता है, तब परवैराग्य के द्वारा उस ऋतम्भरा-प्रज्ञा के संस्कारों का भी निरोध होकर पुराने और नये सभी संस्कारों का निरोध हो जाता है और परिणामतः निर्बीज-समाधि होती है। इस निर्बीज-समाधि को असम्प्रज्ञात समाधि भी कहते हैं। इस समाधि में सर्ववृत्ति-निरोध हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चित्तवृत्तियों की सर्वथा निरुद्धावस्था ही समाधि की अवस्था है। इस अवस्था में प्रकृति के गुण (सत्त्व, रजस् और तमस्) पुरुषार्थ-शून्य होकर अपने कारण अर्थात् मूलप्रकृति में लीन हो जाते हैं और चिति शक्ति अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाती है। दूसरे शब्दों में द्रष्टा (आत्मा) अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसी का नाम कैवल्य है।

यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि पुरुष (आत्मा) का अपने स्वरूप में अवस्थित होना और स्वरूप में स्थित होना दोनों एक ही बात नहीं है। असम्प्रज्ञात समाधि में पुरुष स्वरूप में अवस्थित रहता है और सर्ववृत्ति-निरोध रहता है, किन्तु इस समाधि के भंग होने पर व्युत्थानावस्था में पुरुष वृत्ति-सारूप्य प्राप्त हो जाता है और निरोध के संस्कार दबते जाते हैं एवं व्युत्थान के संस्कार प्रबल होते जाते हैं। किन्तु जब योगी अपने प्रयत्न से स्वरूप-अवस्थिति को स्वरूप-स्थिति में बदल देता है तब उसके समाधिकाल और व्युत्थान-काल में भेद नहीं रह जाता। उसका चित्त सहज ही, बिना किसी प्रयास के निरुद्ध रहा करता है और खाते-पीते, चलते-फिरते सब समय स्वरूप में स्थित रहता है। अतः स्वरूप-अवस्थिति और स्वरूप-स्थिति में बड़ा अन्तर है। पहली प्रयत्नावस्था है और दूसरी सहजावस्था है। पहली अपरिपक्वावस्था है एवं दूसरी परिपक्वावस्था है। सूफी लोग पहली अवस्था को फना की अवस्था और दूसरी को बका की अवस्था कहते हैं। फना की अवस्था वाला साधक परमात्मा के साथ एकत्व स्थापित किये हुए उपराम की अवस्था में रहता है और संसार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। किन्तु व्युत्थान-काल में वह उस एकत्व के अनुभव से वंचित रहता है।

जामी ने अपनी पुस्तक 'नफहात अल-उन्स' में एक सूफी साधक का वर्णन करते हुए लिखा है कि वह फना की अवस्था वाला साधक परमात्मा के एकत्व के ध्यान में भावापन्न रहा करता था। एक दिन वह फूट-फूट कर रोने लगा। शेख द्वारा रोने का कारण पूछे जाने पर उसने बतलाया कि अब वह अनेक को देखने लगा है जिसके कारण वह 'एक' के दर्शन से वंचित हो गया है। वास्तव में फना एक अस्थायी किन्तु बका एक स्थायी अवस्था है। फना में साधक का व्यक्तिगत अस्तित्व अथवा 'अहं' समाप्त हो जाता है और बका में परमात्म सत्ता के साथ अंतरंगता स्थायी हो जाती है। बका परम सिद्धावस्था है। डा० ए० निकोल्सन ने अपनी पुस्तक '*Studies in Islamic Mysticism*' में ऐसे सिद्धों के व्यवहार के बारे में अबू सईद का हवाला देते हुए लिखा है कि वे संसारी मनुष्यों के साथ अच्छी प्रकार सांसारिक व्यवहार निभा लेते हैं, रोजगार करते हैं, सारे सामाजिक कृत्यों में भाग लेते हैं फिर भी वे एक क्षण के लिए भी परमात्मा को नहीं भूलते और न ही परमात्मा के साथ उनका एकात्मभाव कभी मिट पाता है। कर्म-सन्यास के समर्थकों का कहना है कि स्वरूप-ज्ञान के पश्चात् कर्म हो ही नहीं सकता। वे गोस्वामी तुलसीदास जी की एक चौपाई उद्धृत करते हुए कहते हैं—'कर्म कि होंहि स्वरूपहि चीन्हें'। किन्तु स्वरूप-स्थिति को प्राप्त महात्माओं की जीवनियों को देखने से पता चलता है कि वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। 'गीता कहती है—'नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्य कर्मकृत्।' अर्थात् कोई भी किसी भी क्षण बिना कर्म किये नहीं रहता। ऐसा सिद्ध पुरुष सारे कर्मों को करता हुआ उनके फलों में आसक्त नहीं होता क्योंकि वह राग-द्वेष से परे रहता है। पूर्णरूपेण अनासक्त रहता है। अतः उसके कर्म उसके लिये बन्धनकारक नहीं होते क्योंकि फलासक्ति-शून्य भाव से किये गये कर्म न तो पुण्य और न तो पाप ही उत्पन्न करने वाले होते हैं। जिस अवस्था में पहुँचने पर साधक कर्म करने योग्य नहीं रहता वह पूर्णावस्था नहीं है; वह आनन्दानुगत या फना या वज्द की अवस्था है; वह आनन्दातिरेक की अवस्था है, उल्लास की अवस्था है, भावाविष्टावस्था है।

यह तो हुई सूफियों के चरम लक्ष्य की बात जिसके बारे में सूफियों, योगियों और अद्वैत वेदान्तियों में कोई मत-भेद नहीं है। अब आइये देखें कि सूफी साधना की प्रक्रिया क्या है और उस पर योग तथा अन्य भारतीय साधनाओं का प्रभाव कहाँ तक पड़ा है। सूफी-साधना में अनेक प्रकार की प्रक्रियायें देखने को मिलती हैं। सूफी साधकों का एक ऐसा वर्ग है जिसकी साधना-पद्धति पर वैष्णवों की भक्ति-धारा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इस वर्ग के साधकों का कहना है कि परमात्मा को प्रेम के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इन लोगों ने परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखा और वे उसके सौंदर्य और विभूति पर न्यौछावर हुए। परमात्मा के प्रेम को प्राप्त करने के लिए वे विह्वल रहा करते हैं। परमात्मा के प्रति प्रेम ही उनका साधन है और

परमात्मा का प्रेम ही उनका साध्य है। परमात्मा के आत्यंतिक प्रेम के द्वारा भावाविष्टावस्था प्राप्त करके परम प्रियतम का प्रेम प्राप्त करना उन्हें अभीष्ट है।

'ज़िक्र' की साधना

सूफी साधकों की साधना का प्रारम्भ 'ज़िक्र' से होता है। ज़िक्र की साधना विभिन्न सम्प्रदायों में विभिन्न प्रकार से की जाती है। किन्तु यहाँ पर हम विस्तार-भय से केवल उन्हीं साधनाओं की चर्चा करेंगे जिनकी योग के साथ समानता है। 'ज़िक्र' का अर्थ है 'स्मरण करना'। परमात्मा तथा परमात्मा के स्मरण (ज़िक्र) के द्वारा साधक उस अवस्था में पहुँचना चाहता है जिसमें उसका मन परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का चिन्तन न कर सके। इस अवस्था को 'हाल' की अवस्था कहते हैं। 'ज़िक्र' की क्रिया योग के स्वाध्याय और धारणा से मिलती-जुलती है और 'हाल' की अवस्था योग की ध्यानावस्था के समान है। योग-दर्शन में बतलाया गया है कि ईश्वर के नाम का जप तथा ईश्वर की भावना (धारणा) करनी चाहिए। 'तस्य वाचकः प्रणवः' अर्थात् वह प्रणव या ओ३म् उस ईश्वर का नाम है। फिर आगे कहा गया है।

'तज्जपस्तदर्थभावनम्'

अर्थात् उस प्रणव का जप तथा उसके अर्थभूत ईश्वर की भावना या धारणा करनी चाहिए। ऐसा करते-करते।

'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च'

अर्थात् ध्यान की अवस्था आती है जिसमें ध्येय के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का चिन्तन नहीं होता।

'ज़िक्र' दो प्रकार का होता है—एक 'ज़िक्र-जली' और दूसरा 'ज़िक्र-खफ़ी'। ज़िक्र-जली में ज़ोर-ज़ोर से अल्लाह का नाम लिया जाता है जिससे परमात्मा के नाम के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु पर मन न जाय। किन्तु 'ज़िक्र-खफ़ी' में शान्त रह कर परमात्मा का स्मरण किया जाता है। इस प्रकार की साधना करने वालों में कुछ ऐसे भी होते हैं जो अजपा जप करते हैं। श्वास प्रश्वास के द्वारा परमात्मा के नाम का जप इस प्रकार करते हैं—उनकी आँखें बन्द रहती हैं, ओठ बन्द रहते हैं, जिह्वा शान्त रहती है और मन ही मन यह भावना करते हैं कि प्रत्येक बाहर जाने वाली श्वास से 'ला-इल्लाह' और प्रत्येक भीतर जाने वाली श्वास से 'इल-अल्लाह' की ध्वनि होती है। वे उसी श्वास-प्रश्वास पर अपना ध्यान लगाये रखते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक मनुष्य सब समय जाने या अनजाने श्वास-प्रश्वास के द्वारा अल्लाह के नाम का जप करता है। प्रत्येक निःश्वास के साथ 'अल' और प्रत्येक प्रश्वास (बाहर निकलने वाली श्वास) के साथ 'लाह' शब्द का उच्चारण अपने आप होता है। यह स्वाभाविक 'ज़िक्र-खफ़ी' है। यह जप-क्रिया स्वाभाविक गति से सम्पन्न होती है। सूफियों की यह जप-साधना योगशिखोपनिषद् के मंत्रयोग-प्रकरण में दिये गये 'हंसमंत्र' के जप के समान है। इस उपनिषद् में कहा गया है।

"हंकारेण बहिर्याति सःकारेण
विशेत्पुनः।"

यह भी कहा गया है कि

'हंस हंसेति मंत्रेण जीवो
जपति नित्यशः'।

अर्थात् 'हं' के साथ प्राणवायु बाहर जाता है और 'सः' के साथ भीतर जाता है। इस प्रकार जीव अनजाने ही 'हंसमंत्र' का जप निरन्तर किया करता है। इस क्रिया से प्राण पर विजय प्राप्त होती है और वह स्थिर हो जाता है। प्राण के स्थिर होने पर मन शांत एकाग्र हो जाता है। हम यह जानते हैं कि योग में ध्यानाभ्यास एवं धारणा का अभ्यास करते-करते मन ध्येय में लय हो जाता है तथा ध्येय के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का ध्यान नहीं रहता। सूफी कहते हैं कि इस प्रकार श्वास-प्रश्वास के द्वारा 'जिक्र-खफी' का अभ्यास करते-करते जब प्राण स्थिर हो जाता है तो 'फना' (लययोग) की अवस्था आरम्भ हो जाती है।

लतायफी सित्ता या षट्चक्र

सूफी साधना में लतायफी सित्ता का सिद्धान्त भी प्रचलित है। इस सिद्धान्त को ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में नक्श बन्दी सम्प्रदाय के शेख अहमद ने प्रचारित किया। लतीफा का अर्थ है 'चक्र' एवं सित्ता का अर्थ है 'छः'। जिस प्रकार योग में शरीर के अंदर छः चक्रों का तथा उनके स्थानों का वर्णन किया गया है उसी प्रकार सूफी साधना में भी शरीर में छः लतायफ तथा उनकी स्थितियों का वर्णन मिला है। इन छहों लतीफों का स्थान इस प्रकार बतलाया गया है :—

१—नफ्स—इसका स्थान नाभि के नीचे है और यह पीत वर्ण का है।

२—कल्ब—छाती के बायीं ओर स्थित है और इसका रंग पीला है।

३—रूह—इसका स्थान छाती के दाहिनी ओर है और यह लाल वर्ण का है।

४—सिर्र—इसका स्थान छाती के बीच में है और इसका वर्ण श्वेत है।

५—खफी—इसका स्थान भ्रू-मध्य में है और इसका वर्ण काला है।

६—अख्फा—इसका स्थान मस्तिष्क है और इसका वर्ण हरा है।

सूफियों ने इन चक्रों के देवताओं की भी कल्पना की है, कल्ब में आदम, रूह में अब्राहम, सिर्र में मूसा, खफी में ईसा और अख्फा में मुहम्मद की कल्पना की गयी है। सूफियों का कहना है कि जिक्र की क्रियाओं द्वारा अर्थात् जप, धारणा, प्राणायाम, ध्यान आदि क्रियाओं द्वारा इन लतीफों (चक्रों) को जाग्रत करना आवश्यक है। इन लतीफों को जाग्रत करने के पश्चात् ही साधक को फना की अवस्था प्राप्त होती है जिसे 'आलमे हैरत' कहते हैं और वह परम ज्योति का दर्शन करने में समर्थ होता है।

उपर्युक्त विवरणों से योग के पाठकों को यह भली-भांति ज्ञात होगा कि सूफी-साधना पर योग का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। ऊपर जिस अजपा-जप, प्राणायाम, धारणा, ध्यान तथा षट् चक्रों का सिद्धान्त सूफियों की साधना में मिलता है वह एक मात्र भारतीय योग की देन है। इसमें कोई भी उन पर अधिकार प्राप्त करता है तथा 'कर्तुं-मकर्तुमन्यथाकर्तुं' की शक्ति वाला बन जाता है। इन अनुभूतियों और दिव्य शक्तियों का वर्णन विस्तार-भय से प्रस्तुत लेख का विषय बनाना सम्भव प्रतीत नहीं हो रहा है। यदि सुयोग बना तो भावी में इनका वर्णन किसी अन्य शीर्षक के अन्तर्गत करने का प्रयास करूँगा।

आगमिक अनुसन्धान के आलोक में–

ह्रींकार-तत्त्व-विमर्श

[लेखक :—डा० रुद्रदेव त्रिपाठी एम. ए. पी. एच. डी., संस्कृत विद्यापीठ १/६ शान्ति निकेतन नई दिल्ली-२१]

मन्त्र और विज्ञान

मन्त्र पूर्णरूपेण सूक्ष्म द्वारा स्थूल पर नियन्त्रण करने वाला तत्त्व है, मानवों के विराट् को सक्रिय रखने वाली पद्धति है, पिण्ड में ब्रह्माण्ड देखने की दृष्टि है। और प्रकृति को वश में करने की एक अचूक शक्ति है। आज भौतिक विज्ञान की प्रतिष्ठा के कारण भौतिक वस्तुएं सर्वसुलभ बन गई हैं, परन्तु उसके कारण मानव तर्क का आश्रय लेकर बाह्यगत प्रपंचों में उलझता जा रहा है। भौतिक-विज्ञान तर्कसंगत तथ्यों को स्वीकृत करता है जिससे विज्ञान के समक्ष आध्यात्मिक मान्यताओं का कोई मूल्य नहीं रहता, क्योंकि वह तर्क की नहीं अपितु विश्वास की भूमिका पर पनपता है। बुद्धि एक ज्ञान केन्द्र है, किन्तु उसका कार्य नियन्त्रण नहीं है नियन्त्रण तो शक्तिपुञ्ज मन ही करता है। अतः मन के उदात्त विश्वास की परम आवश्यकता है और वह मन्त्र के बिना प्राप्त नहीं हो सकता।

मन्त्र और बीजमन्त्र

तन्त्रशास्त्रों में मन्त्र के अनेक प्रकार बताए हैं, जिनमें अक्षर संख्या के आधार पर मन्त्र, मालामन्त्र, बीजमन्त्र आदि प्रमुख भेद हैं। अक्षरों के स्वर एवं व्यंजन रूप दो प्रकारों के साथ अनुनासिक अनुस्वार, विसर्ग आदि का संयोग करने से मातृकाक्षर बीज-मन्त्र बन जाते हैं। इस मातृका के मन्त्रशास्त्रों में चार रूप उपलब्ध होते हैं १—केवल मातृका, २—बिन्दुसंयुक्ता—मातृका, ३—विसर्ग-संयुक्ता-मातृका और ४—बिन्दु-विसर्ग-सम्मिश्रमातृका।

लोक में बिन्दु-विसर्ग रहित 'केवल मातृका' का प्रयोग होता है और अन्य तीन भेदों का प्रचलन मन्त्रशास्त्र में ही है।

'स्वच्छन्दतन्त्र' में 'न विद्या मातृका परा'—(पटल ११श्लोक १९९)कहकर इसी प्रकारके बीज-मन्त्रों को विद्या की संज्ञा दी गई है। अकार से क्षकार पर्यन्त बिन्दु युक्त मातृका को 'सर्वज्ञताकारी' कहने में भी सम्भवतः यही रहस्य निहित है। तभी तो इसके एक अक्षर मात्र के सिद्ध हो जाने पर मनुष्य—सूर्य, गरुड़, चन्द्र, काम देव, शङ्कर अग्नि और विष्णु से स्पर्धा करने लगता है। अतः यह मन्त्र बीजों का पूर्व रूप कहा जा सकता है।

द्वितीय रूप बीजमन्त्र का विभिन्न स्वर-नियन्त्रण तन्त्र है जिससे एक नवीन बीजमन्त्र बनता है। यथा—अनुत्तर रूप अकार और आनन्द रूप आकार को इकारात्मक इच्छा शक्ति से जोड़ने पर बीजत्रय के संघट्ट से एकारात्मक जन्माधार एकाक्षरम बीज का उदय होता है जिसे त्रिकोण कहते हैं।

तृतीय रूप स्वर-व्यञ्जन संयोग-समुत्पन्न बीज का है, जिसमें बिन्द्वादिसंयोग में मन्त्रमयता लाकर जप किया जाता है। और ऊपर कहे हुए प्रकार के अनुसार स्वर+स्वर, व्यंजन+व्यंजन, सस्वर व्यंजन+व्यंजन और एकाधिक सस्वर व्यंजन+व्यंजनजन्य रूप अनेक रूपताको प्राप्त करते हैं।

बीजमन्त्र क्या है ?

तन्त्रशास्त्रों में अनेक शक्ति सम्पन्न वर्णों का संक्षिप्त रूप बीज कहलाता है। विशिष्ट ईजन-प्रेरण ही इसका रहस्य है। यह बीजका विपरीत रूप भी है जो लौकिक सामान्य बीज की तरह अंकुर, पल्लव, पुष्प और फलों की उत्पत्ति का मूल कारण होता है। यह मन्त्रबीज भी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का सहज साधन है। जिस प्रकार दूध के विश्लेषण से क्रमशः दधि और तक्र के पश्चात् साररूप घृत की उपलब्धि होती है उसी प्रकार बीजाक्षर को भी महाशक्तिशाली और रहस्यमय बनाने का तन्त्रशास्त्रों ने उल्लेख किया है। शक्ति के स्रोतों में अणुका जो महत्त्व है वही मन्त्र-शास्त्र में बीजमन्त्र का है। बीज-मन्त्र में जो शक्ति है वह इतर मन्त्र में नहीं अर्थात् बीजमन्त्र सम्पूर्ण मन्त्र का रहस्य है और वह लघुतम ध्वनि में निहित है।

बीजमन्त्र की शक्ति

हमारे मस्तिष्क में अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त जीवन का स्रोत उमड़ रहा है। उसके अवरुद्ध मार्ग का उद्घाटन बीजमन्त्र करता है। जैसे शान्त और निश्चल सरोवर में कंकड़ डालने पर तरंगों की परम्परा निर्मित होती है इसी प्रकार हमारी अव्यक्त शक्तियों को जागृत करने के लिये बीजमन्त्र द्वारा स्पन्दन-उत्पत्ति की जाती है। यह स्पन्दन ही अव्यक्त शक्ति को प्रकट करता है। बीजमन्त्र द्वारा अव्यक्त शक्ति प्रकट होती है, उसमें बीजाक्षर की पंचमहाभूतात्मक रचना ही प्रमुख कारण है। जैसे बीज में जो बिन्दु है वह आकाश है, चन्द्ररेखा वायुस्वरूप है, शिरोरेखा अग्निस्थानीय है, अक्षरों की आकृति जल है और उसका आधार-स्थान पृथ्वी रूप है। इन पंच महाभूतों से निर्मित बीजमन्त्र में चेतना-शक्ति हो यह स्वाभाविक ही है।

बीजमन्त्रों की अनन्तता

यह ऊपर बताया जा चुका है कि वर्णों के पारस्परिक बलाबल द्वारा संयुक्त होने पर ही बीजमन्त्र बनते हैं। ये बीजमन्त्र उसी पञ्चाशत्-वर्णमयी मातृका देवी के प्रसाद रूप हैं। इनमें एक और एकाधिक मिश्रण से अनेकरूपता आ जाती है। और मातृका के प्रत्येक वर्ण के देव, ग्रह, नक्षत्र, राशि, तत्त्व आदि उसमें सहायक होते हैं। इसी के सूक्ष्म भेद-विवेचन में एकाक्षर-मन्त्र पिण्ड दो अक्षर वाला मन्त्र कर्त्तरी और तीन से नौ अक्षर तक के मन्त्र को बीज कहा गया है। वट-वृक्ष के सूक्ष्म रूप का समावेश जिस प्रकार वट-बीज में निहित रहता है उसी प्रकार मन्त्रबीज में भी समस्त मन्त्रात्मिका सृष्टि समाविष्ट रहती है जो अपनी अनन्तता और व्यापकता के लिये प्रसिद्ध है।

बीजमन्त्र की उपासना

तन्त्र के भिन्न-भिन्न अंगोंमें एक अङ्ग है देवता जिसका स्वरूप मन्त्र है। अतः जिस मन्त्रकी उपासना करनी हो उस मन्त्रके देवताका स्वरूप भी जानना आवश्यक है। किसी भी बीज मन्त्र के देवताके लिये यह आवश्यक नहीं है कि उसका एक ही स्वरूप हो। सूक्ष्म रूपसे देवताओं के स्वरूप भी परिवर्तित होते रहते हैं और जिस प्रकार शिव रुद्ररूप होते हैं और वे ही शंकर रूप भी होते हैं, अथवा जो विद्युत मूलरूप में जो शक्ति होती है, वही कारखानोंमें यन्त्र चलानेके लिये, घरमें रसोई, प्रकाश या अन्य आवश्यक कार्यों के लिये और अन्य स्थलों पर भिन्न-भिन्न कार्यों के लिये प्रयुक्त होती है, उसी प्रकार साधक जिस दृष्टिसे आराधना करता है, उसे उस-उस रूपमें वे देवता सिद्ध होते हैं। सत्त्वगुण प्रधान बनकर वे देवता रक्षण करते हैं, रजोगुण-बहुल होकर सर्जन करते हैं तथा तमोगुण विशिष्ट बनकर विनाशलीला दिखाते हैं। अर्थात् यह सब साधक की भावना पर अवलम्बित है। बीजमन्त्र की उपासना स्थान और उपयोग भेदसे सर्जन और विनाश दोनों कार्य सम्पन्न करती है। अतः साधक को चाहिये कि वह प्रारम्भ से ही इस प्रकार का निर्णय कर आगे बढ़े।

ह्रींकार और उसके तत्त्व

प्रत्येक बीजमन्त्र के लिये विचारणीय चार तत्त्व माने गये हैं:—१ वर्णतत्त्व, २—लिपितत्त्व ३—ध्वनितत्त्व ४—जपतत्त्व। इन तत्त्वों के आधार पर यहाँ क्रमशः विचार किया जाता है।

[१] वर्णतत्त्व अकारादि हकारान्त वर्णमाला के अन्त में ह वर्ण आता है। यह वर्ण अपने अनेक गुणों से महनीय है। ह्रींकारमें 'ह' कारका आदिस्थान है। वैखरी वाणी में हकारकी महिमा सर्वोपरि है, यह हम 'प्रपञ्चतन्त्र' के प्रथम पटल से इस रूप में प्राप्त करते हैं।

स्वयम्भु ब्रह्मा ने परतत्त्व से जिज्ञासा की 'हम समस्त देवगण नित्य हैं कि अथवा अनित्य ? हमारा स्वरूप क्या है ? किस निमित्त-कारण द्वारा हम उत्पन्न हुए हैं, आदि, इन सब प्रश्नोंका उत्तर परंज्योति परमेश्वर ने दिया कि—'तुम लोग प्रतिवार प्रकृति, पुरुष, काल तथा 'ह' कार इनके समुदित रूप अक्षरतत्त्व से उत्पन्न हुए हो। सृष्टि, स्थिति और अन्त ही तुम्हारा कार्य है। प्रकृति आदि से तुम्हारी उत्पत्ति एवं उन्हींमें लय होता है। ह्रीं अथवा प्रणवात्मक मूलवर्ण तथा उसकी स्वरात्मक विकृतियाँ, उन वर्णोंसे निष्पन्न अनेक मन्त्र तथा वैदिक और तान्त्रिक मालायें प्रयोग 'ह' इस वर्ण के अतिरिक्त और कुछ नहीं। 'ह' यह वर्ण अकार और हकारात्मक है। प्रत्याहारकी रीतिसे अ और ह इन दोनों वर्णों में शब्दार्थ सृष्ट्यात्मक परा वाग्रूपता सिद्ध है। वस्तुतः हकार वर्णमात्र नहीं है वह सम्पूर्ण मातृका ही है। यही वर्णान्तरोंसे हकारकी विशेषता है। यह हकारात्मिका मन्त्र देवता, स्थूल, सूक्ष्म, कारण, सामान्य और साक्षीरूप से पाँच प्रकार है। इत्यादि कह कर आचार्य शङ्कर ने अन्त में कहा है कि—

पूर्वोक्ताद्विन्दुमात्रात् स्वयमय स्वतःमात्रतामभ्युपेता कारादीन्, इयष्टकादीनपि तदनुगतान् एञ्चवित्यन्तर्गत। यादीन्, सपुक्तय तूनपि गुणसहितैः पञ्चभूतैश्च ताभिस्तन्मात्राभिरर्णतोयत्र प्रकृतिरथ 'ह'संज्ञा भवेद्व्याप्य

॥ विश्वम् ॥

निस्तरङ्ग प्रकृति स्वयं ही बिन्दु तत्व से शब्द ब्रह्मात्मकता को प्राप्त होकर अकारादि सोलह स्वरों तथा ककारादि पच्चीस व्यञ्जनों एवं गुण सहित तन्मात्राओं से युक्त पञ्चभूतों के साथ यकारादि संयुक्त धातुओंका रूप ग्रहण करती है। तदनन्तर सर्वात्मक ब्रह्मके साथ अभिन्न होकर 'ह्' वर्ण जिसका वाचक है ऐसी हसशाख्य प्रकृति ही शेष रहती है।

यह हकार ही हृल्लेखा 'ह्रीङ्कार' है। इसकी पुष्टि में वहीं चतुर्थ पटल में कहा गया है कि—

> यां ज्ञात्वा सकलमपास्य कर्मबन्धं,
> तद्विष्णोः परमपदं प्रयाति लोकः।
> तामेतां त्रिजगति जन्तुजीवभूतां,
> हृल्लेखां जपत च नित्यमर्चयीत ॥७६॥

इसलिये अन्य दृष्टिसे यदि हम ह्रीङ्कारके वर्णतत्व का चिन्तन करते है तो ज्ञात होता है कि —ह्—आकाश-स्थानीय है और आकाश शब्दगुणक है। शब्द जब अक्षर देहमें आता है तो वाग्व्यापार आरम्भ होता है और वाग्व्यापारके द्वारा ही समस्त सृष्टिका कार्य चलता है। आचार्यदण्डीने कहा है कि

> इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
> यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते।

अतः मानवजीवनकी सफलता 'ह्' वर्ण पर ही निर्भर है। इसीमें तेजोमय तत्त्व र अग्निबीज समाविष्ट है, जो वाग्व्यवहारको तेजःपूर्ण बनाता है और आङ्यसे मुक्त करता है। केवल उष्मा भी सर्वदा उपयोगी नहीं होती, अतः उसके साथ ईकाररूप कोमल तत्त्वका समावेश हुआ और यह सब किसी एक अच्छे निर्माणमें प्रयुक्त हो, इस दृष्टिसे इसमें 'म' का समावेश हुआ जो 'माति—निर्माणं करोति' का विवरण रूप है।

इस प्रकार ह्रीं बीजके वर्णतत्त्वका स्फोरण-'ह्+ई+म्, ह्+र्+ई+म, र्+ह्+ई+म, ह्+र+ई+म्, ह्री+ई+म, ह्री+ई+म' आदि अनेक वर्णों के संयोग से कूट रूपमें होता है और इनकी एक-रूपतासे सम्पन्न 'ह्रीं' बीज लेखन और उच्चारण भेदसे जीवके वाग्व्यापार को तेजस्वी बनाने, जीवनशक्तिको विशिष्ट बल देने, जीवन में मधुरता लाने, आरब्ध कार्य को पूर्णता तक पहुंचाने आदिका कार्य करता है।

(ख) **लिपितत्त्व**—मनुष्य के पास भावोंको प्रकट करनेके तीन साधन हैं। जिनमें प्रथम संकेत, द्वितीय उच्चारण तथा तृतीय लेखन है। सङ्केतमें शरीर के विभिन्न अंग ही वर्णमाला का कार्य करते हैं। ध्यानके समय सङ्केत आन्तरिक रूप का वरण करते हैं और अपनी भावनाओंको आराध्यके प्रति अभिव्यक्त करते हैं उच्चारणमें प्रथम अव्यक्त ध्वनि बादमें व्यक्त-ध्वनि—उच्चारण अधिक प्रभावशाली होते हैं। लेखनमें बिन्दु और उसीके भिन्न खण्ड अवतरित होते हैं। रेखाओं के सीधे और तिरछे आकारोंके साथ बिन्दु के खण्डोंका संयोग स्वर्ण-सौरभ के समान वर्तमान लिपि में प्रभावशाली है। विद्वानों ने इसी के आधार पर लिपि की चार अवस्थाओंका अङ्कन किया है और उसके विकास क्रम का उल्लेख इस प्रकार किया है।

१—विचारलिपि　　—आइडियोग्रैफिक
२—चित्रलिपि　　—पिक्टोग्रैफिक
३—अक्षरलिपि　　—सिलेबिक
४—प्रतीकात्मक लिपि　—अल्फाबेटिक

और इन चारों अवस्थाओंका विकास क्रमशः चिह्न वस्तुचित्र, सस्वर ध्वन्यात्मकवर्ण तथा स्वतन्त्र

ध्वनि, प्रतीकात्मक रूप में हुआ है ऐसा भी माना जाता है। इससे भी देवनागरी लिपि ही ध्वन्यात्मक (फोनेटिक) होने के कारण पाँचवी अवस्था वाली मानी जाती है।

ह्रींकार का लेखन इस दृष्टिसे महत्वपूर्ण है। 'वर्ण-विग्रह' में लिखा है कि—प्रत्येक समात्रिक वर्ण देवरूप है।

समात्रिकः सरेफश्च, वर्णस्तस्सानुनासिकः।
सानुस्वार विसर्गो हि, पूर्ण देवत्वमृच्छति॥

(मात्रा, रेफ, अनुनासिक, अनुस्वार और विसर्गके साथ लिखा हुआ वर्ण पूर्ण देवताके रूपका बन जाता है।)

इसी प्रसंगमें ह्रींकारके लेखनका वर्णन करते हुए बताया है कि—'ह्' अक्षर शिवका पर्याय है, 'र' इच्छा (शिवशक्ति) का अर्थात् मूलाधारका सूचक है। ये दोनों मिलकर 'ह्र' बनते हैं। ह्रस्व इ और दीर्घ ई की मात्राएं 'ह्' की दोनों भुजाएं हैं, ये ही शिवकी सृष्टि-शक्तिमें कारणभूत मानी जाती हैं। इसके साथ ए और ऐ की मात्राएं क्रमशः नासिका नेत्र (प्राणायाम तथा शक्ति) हैं। ओ तथा औ की दोनों मात्राएं कर्ण हैं। अनुनासिका चन्द्र द्वितीयाका चन्द्र है। बिन्दु गङ्गायुक्त जटा है। विसर्ग मुख है और ॐ ध्वनि नाद-ब्रह्मका प्रतीक है। दोनों ऊ-ऊकी मात्राएं पद्मासनमें बांधे हुए चरण (आसनशक्ति) हैं। इस प्रकार ह्रींकार की प्राचीन लिपिमूर्ति बनती है।

इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि यहाँ जो उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, विसर्ग तथा ॐ के लेखन का सूचक है यह कदाचित् भास्करराय मखीके 'वारिवस्या-रहस्य' में लिखित रोधिनी नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना उन्मनी और महाबिन्दु आदि नादोंके रूप में किया होगा?

इसी प्रकार ह्रींकारका पञ्चरङ्गी आकलन भी शास्त्रविहित है, जिसमें ह पीतवर्णी, चन्द्रकला रक्तवर्णी चन्द्र व गोल नाद श्वेतवर्णी और दीर्घ ईकार नीलवर्णी लिखा जाता है। जैनधर्म के तन्त्र ग्रन्थोंमें इस विषयपर अधिक प्रकाश डाला गया है।

[ग] ध्वनित्व— मन्त्र एक साधन है और उसका उपयोग है उच्चारण। वर्णोंका उच्चारण सूक्ष्म वातावरणसे उन अङ्गोंको प्रभावित करता है जिनका उद्देश्य साधकको अभीष्ट होता है जैसा विस्फोट विनाशकी, और संगीत की स्वर लहरी आनन्दकी सृष्टि करते हैं यह सर्वविदित है। अभिनेताओं द्वारा रंगमञ्च पर किये गये अट्टहास और रुदन प्रेक्षकोंको किस तरह प्रभावित करते हैं यह किसी से छिपा नहीं है। अतः साधक अपनी अभीष्ट सिद्धिके अनुरूप ही मन्त्र का उच्चारण करे यह आवश्यक है। उच्चारणमें मातृकाके 'शान्ति, सरती और कामति इन तीनों वर्णतत्त्वों का अर्थ क्रमशः उत्पत्ति, विस्तार और नादरूप से परिचित होना चाहिए। इनमें व्याकरण-शास्त्र शब्दतत्त्वकी व्यवस्थाका निर्देश करता है, जब कि वर्णों की उत्पत्तिका विषय यौगिक-प्रक्रिया-मूलक है और वह मंत्रशास्त्रकी दृष्टिसे मूलाधार से उत्थित नाद विविध षट्चक्रों में वलन क्रिया द्वारा परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरीके रूपमें पहुंच कर वर्णरूपमें प्रकट होता है।

इस प्रकार मातृकाके—१—अन्तर्मातृका, २—बहिर्मातृका, ३—विलोममातृका आदि कतिपय रूप मन्त्र शास्त्रमें प्रयुक्त होते हैं। इनमें मूलाधार,

स्वाधिष्ठान आदि चक्रोंमें, साधक जब मातृका वर्णोंका बं भं मं आदि क्रमसे न्यास करता है उसे अन्तर्मातृका कहते हैं। इसका न्यास क्रम अक्षरानुसारी निम्न पद्य में गुम्फित है "आधारे लिङ्गनाभौ प्रकटितहृदये तालुमूले ललाटे, द्वे पत्रे षोडशारे द्विदशदशदले द्वादशार्धे चतुष्के। वासान्ते बालमध्ये डफकठसहिते कण्ठदेशे स्वराणाम्। हं क्षं तत्त्वार्थयुक्तं सकलदलगतं वर्णरूपं नमामि॥ लिपिमयी देवीके रूपको बहिर्मातृका कहते हैं। इसमें विशेष क्रमसे अकारादि वर्णों द्वारा ही देवीके अंगों की रचना की जाती है। प्रचलित मातृकाका सबिन्दुक उलटा रूप ही विलोममातृका है। वर्णमालाको मातृकाका स्थूल रूप कहा है। इसके अतिरिक्त सूक्ष्म और सूक्ष्मतर भेद भी माने गये हैं। मध्यमा वाणी सूक्ष्ममातृका है। परा और पश्यन्ती इन दोनोंको सूक्ष्मतर या सूक्ष्म मातृका कहते हैं।

अन्तर्मातृकाको उन्निद्र बनानेके लिये नीवार शूक जैसी अतिसूक्ष्म कुण्डलिनीका चिन्तन और जागरण आवश्यक है। अन्य मन्त्रोंकी अपेक्षा बीजमन्त्र अधिक तेजोमय होता है। इसकी रचना परमाणुरूप होने कारण अति महत्वपूर्ण होती है। अतः अन्तर्मातृका उन्नित हुए बिना सिद्ध होना कठिन है। केवल बीज-मन्त्र की उपासना करने वाले साधकको कुंडलिनी शक्ति और षट्चक्रभेदकी क्रिया पर विशेष ध्यान देना चाहिए। बीजमन्त्र संयुक्ताक्षररूप होता है और उसका उच्चारण कतिपय विशिष्टताओंके आधार पर ही हो सकता है। एतदर्थ कहा गया है—

संयुक्तध्वनिवर्णो हि प्राक्स्पर्शाच्चित ध्वन्यते।
धनुर्लिपिवत्र कश्चित्र कुर्यादि योगभेदनम्॥

संयुक्तवर्णोंसे पूर्व आने वाली ध्वनि आगेकी ध्वनिके साथ मिली हो तभी उत्तम रीतिसे उच्चरित हो सकती है। धनुर्लिपिके समान संयुक्ताक्षरोंमें सम्मिलित रूपको तोड़ना उचित नहीं है। संयुक्ताक्षरोंमें पहलेसे संयुक्त ध्वनि चार प्रकार की होती है। १—व्यक्तिध्वनि, २—स्पर्शध्वनि, ३—लीनध्वनि और —आघातध्वनि। किन्तु अकेले कुटाक्षरूप बीजमन्त्रका उच्चारण इन चारों ध्वनियोंसे कुछ विशिष्ट ही होता है, क्योंकि यह अकेला उच्चरित होता है। ह्रींकारकी वर्णयोजना ऊपर दिखाये अनुसार भिन्न-भिन्न वर्णोंसे होती है। ह्रीं में ह कण्ठस्थानीय है किन्तु 'र' मूर्धस्थानीय नहीं है यह तो—

रेफो मूर्त्तिगतः शीर्षं, तालुस्थो मध्यभावतः।
पादौ वर्त्संगत भूमिस्थस्ताद्वत्ज्ञोवन मतम्॥

के आधार पर वर्त्सस्थानीय अर्थात् मसूढ़ेसे उच्चार्य है। ईकार तालु और म्-अनुस्वार नासिकास्थानीय है। और इसके बादका नादात्मक उच्चारण तो सुगम्य है ही। जैसे मल्हार रागसे वृष्टि और दीपकरागसे ज्योति प्रकट होतीहै, उसी प्रकार उच्चारणकी विशिष्टतासे ह्रीं बीजका मारण, मोहन, उच्चाटन आदि कर्मोंके लिये कुछ उच्चारण भेद अपेक्षित है। यथा—मारण और उच्चाटन के लिये कटुत्व-पूर्ण अप्रिय लय युक्त, वशीकरण-सम्मोहन आदिके लिये मधुर ध्वनि और कोमल लयका समावेश होना चाहिए। इसी दृष्टिसे उग्र कर्मोंके लिये सम्भवतः "ह्र ईम्" ऐसे बीज का

(शेष पृष्ठ ८० पर)

साधन और श्रद्धा

कितने ही साधक यह प्रश्न किया करते हैं कि हमारा साधन पहले की अपेक्षा शिथिल प्रतीत होता है; इसमें ईश्वर-कृपा की कमी कारण है या प्रारब्ध कारण है अथवा वर्तमान का दूषित वातावरण और कुसङ्ग कारण है या श्रद्धा की कमी कारण है अथवा अन्य ही कोई कारण है ?'

इसका उत्तर यह है कि ईश्वर की कृपा तो सब पर पूर्ण रही है और है। हमलोग अपने ऊपर ईश्वर की जितनी कृपा मानते हैं, उससे कहीं अधिक है। किंतु मनुष्य ईश्वर की कृपा अपने ऊपर जितनी मानता है, उतना ही उसे लाभ होता है। इसलिए ईश्वर की अपने ऊपर पूर्ण कृपा मानकर साधन विषयक विशेष लाभ उठाना चाहिए।

प्रारब्ध साधन में बाधक नहीं है। जब मनुष्य पर कोई आपत्ति आती है या उसके कोई रोग हो जाता है, तब वह श्रद्धा की कमी और आत्मबल की कमी के कारण ही उस सांसारिक आपत्ति या रोग का बहाना लेकर प्रारब्ध पर दोष देने लगता है।

साधन कमजोर होने से वस्तुतः श्रद्धा और विश्वास की कमी ही प्रधान कारण है; अतः साधन की उन्नति के लिए सबसे बढ़कर उपाय श्रद्धा ही है। भक्तिपूर्वक विश्वास होना ही श्रद्धा है। (१) ईश्वर, (२) महापुरुष, (३) भक्ति-ज्ञान वैराग्य-सदाचार के प्रेरक श्रुति, स्मृति, इतिहास पुराण आदि धार्मिक सत्-शास्त्र और (४) परलोक—ये चार श्रद्धा करने के योग्य हैं। यदि उपर्युक्त सत्-शास्त्रों के वचन कहीं समझ में न आवें या कहीं उनके सम्बन्ध में अपने आत्मा में शङ्का उत्पन्न हो जाय तो महापुरुषों के आचरणों को लक्ष्य बनाकर उनके अनुसार आचरण करना चाहिए। महाभारत में यक्ष के प्रश्नों का उत्तर देते समय महाराज युधिष्ठिर ने बतलाया है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥

(वन० ३१३ । ११७)

'तर्क की कहीं स्थिति नहीं है, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं; एक ही ऋषि नहीं है कि जिसका मत प्रमाण माना जाय तथा धर्म का तत्त्व गुहा में छिपा हुआ—अत्यन्त गूढ़ है; अतः जिस मार्ग से महापुरुष गये हैं, वही मार्ग असली मार्ग है।

अथवा महापुरुष सम्मुख विद्यमान हों तो उनसे पूछकर उनके कहे अनुसार आचरण करना चाहिए।

भगवान् ने गीता में कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

(३ । २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य समुदाय उसी के अनुसार बर्तने लग जाता है।'

यदि महापुरुष न मिलें तो अपनी श्रद्धा, विश्वास, रुचि और स्वभाव के अनुसार जो अपने आत्मा का हितकर साधन प्रतीत हो, उसी को करे ।

अतः समस्त साधनों की सिद्धि में श्रद्धा ही मूल कारण है। जो मनुष्य श्रद्धेय की आज्ञा पाकर उसके अनुसार आचरण करता है, वह श्रद्धालु है। उससे अधिक श्रद्धालु वह है, जो श्रद्धेय का संकेत मात्र मिलते ही तदनुसार कार्य करने लगता है। उसकी अपेक्षा वह और अधिक श्रद्धालु है, जो अपने मन के विपरीत होने पर भी उस कार्य को करता है तथा उससे भी अधिक श्रद्धालु वह है, जो मन के विपरीत आज्ञा को पाकर भी बड़ी प्रसन्नता से उसे करता है। एवं श्रद्धेय की आज्ञा के लिए अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक अपने आपको न्यौछावर कर देने वाला पुरुष तो बहुत ही ऊँची श्रेणी का श्रद्धालु है। एक ओर अपनी मान्यता है और दूसरी ओर श्रद्धेय की मान्यता है तो ऐसी स्थिति में अपनी मान्यता पर कोई ध्यान न देकर श्रद्धेय की बात को प्रत्यक्ष की भांति समझने वाला मनुष्य उच्चकोटि का श्रद्धालु है तथा प्रत्यक्ष से भी बढ़कर श्रद्धेय की बात का आदर करने वाला परम श्रद्धालु है। भाव यह कि अपनी जो मान्यता, सिद्धान्त और समझ है—उन सबका श्रद्धेय की बात पर बलिदान कर देना—यह परम श्रद्धालु का लक्षण है।

(पृष्ठ ७८ का शेष)

उच्चारण अधिक उत्तम माना जाता है। 'मन्त्राभिधान' तथा 'बीजनिघण्टु' में—

क्षतजस्थो (र) श्यामवक्त्रो
(ह्) धूम्रभैरव्यलङ्कृतः ।
ईं तथा क्षतजस्थो व्योम-
वक्त्रश्चन्द्रोऽर्धबिन्दुभूषितः ।

ह्, र, ईं

ऐसा ह्रींकार का स्वरूप वर्णित है। काश्मीर के तन्त्राचार्यों ने भी 'लघुस्तव' की पुष्पिका में ह्रींकार की स्तुति करते हुए कहा है कि—

यो बिन्दुः स पितामहो
हरिरसौ तुर्यस्वरो गीयते,
यो रेफो दुरितौघमर्दनकरः
साक्षाच्च रुद्रः स्मृतः ।
ह्रः प्राणः पुरुषः स एव
भगवान् नादः स्वयं सर्वदो,
देवी चन्द्रकला कलंकरहिता
मायेति तुभ्यं नमः ।

उपर्युक्त पद्य में हकार से पूर्व रकार की सूचना है। और इसके साथ सबसे पूर्व बिन्दु बाद में ईं, र, ह्, नाद और चन्द्रकला का सूचन है। इसे हम केवल कविक्रियाजन्य वर्ण सुलभता नहीं कह सकते। अपितु यह सम्प्रदायगत-परम्परा से अनुस्यूत हो ऐसा प्रतीत होता है।

[घ] जपतत्त्व—जप अन्य कर्मों के समान ही एक आत्मकल्याण का साधन है। जैसे किसी भावना का मन में निरन्तर आवर्तन होने से मन में उसकी प्रतिष्ठा होती है और क्रमशः मन भी वैसा ही बन जाता है। इसी प्रकार जप करते-करते मानव भी मन्त्र रूप बन जाता है। मन्त्र के देवरूप होने से मानव देवत्व को प्राप्त होता है। इसके अन्य उदाहरण रज्जुशिला संयोग तथा भ्रमरकीट न्याय आदि विचारणीय हैं।

नववर्ष प्रवेश

परम करुणा-सागर आनन्दकन्द योग योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी की पावन जयन्ती पर जो चैत्र शुक्ल नवमी को प्रतिवर्ष सवाई धाम पर वार्षिक योग महामेला के रूप में मनाई जाती है 'सिद्धयोग' अपने जीवन के सातवें वर्ष में प्रवेश कर रहा है। पिछला वर्ष पत्रपत्रिकाओं के लिए दुरूहताओं का वर्ष रहा है। कागज के अभाव और बढ़ते हुए मूल्यों से सभी देशी विदेशी पत्र प्रभावित हुए हैं। सभी ने मुद्रण सामग्री और कागज के मूल्यों में वृद्धि हो जाने के कारण अपने-अपने मूल्यों में वृद्धि की है। 'सिद्धयोग' भी इस मूल्य वृद्धि से अछूता नहीं रहा। दो रुपया वार्षिक मात्र की वृद्धि 'सिद्धयोग' ने अपने मूल्य में अपने संस्थापक सम्पादक एवं संचालक श्री गुरुदेव जी महाराज की अनुमति से की है, यानी अब से 'सिद्धयोग' बारह रुपया वार्षिक मूल्य प्राप्त होने पर ही अपने ग्राहक अनुग्राहक और पाठकों की सेवा में पहुँच सकेगा। 'सिद्धयोग' का यह मूल्य लागत मात्र की दृष्टि से ही रक्खा गया है। और इस लागत-मात्र में, छपाई, कीमत कागज, डिस्पैचिंग आदि का व्यय ही शामिल किया गया है। सम्पादन और व्यवस्था आदि श्री गुरुदेव जी के निर्देशन से निःशुल्क ही होता रहा है। विद्वान् लेखकों और सुकवियों की बहुमूल्य रचना सामग्री भी श्री गुरुदेव जी की कृपा से बिना कुछ पारिश्रमिक दिये निःशुल्क ही हमें प्राप्त होती रही है। इस सौजन्य के लिए 'सिद्धयोग' के मनीषी विद्वान लेखकों और सुकवियों के प्रति संयुक्त सम्पादक के रूप में व्यवस्थापक मण्डल की ओर से मैं विनम्रता पूर्वक अपना आभार प्रकट करता हूँ। जो उच्चकोटि की विचार सामग्री 'सिद्धयोग' गत ६ वर्षों में योग के सम्बन्ध में देसका है उसका श्रेय पूज्य श्री गुरुदेवजी तथा उनके अपने लेखक मण्डल को ही है। 'सिद्धयोग' का जो विशिष्ट स्थान यौगिक क्षेत्र व हिन्दी पत्र जगत में बन सका है वह भी श्री गुरुदेव जी के कृपा-प्रसाद का ही परिणाम है।

कठिनाई की मंजिल—

'सिद्धयोग' कठिनाई की जिस मन्जिल से गत वर्ष निकलकर आया है वह अब भी उसके सामने है। प्रत्येक आवश्यक चीज के अभाव के युग में कागज स्याही एवं मुद्रण सम्बन्धी अन्य आवश्यक सामग्री का अभाव भी बाजार में रहा है, फिर यह अभाव चाहे

वास्तविक हो, या कृत्रिम। इस अभाव के परिणामस्वरूप चाहे जब चाहे जैसा कागज मिलना ऊंची कीमत पर भी दुर्लभ रहा है। एक लम्बी प्रतीक्षा के बाद जो कागज हमें समय-समय पर मिला वह भी प्रायः कम वजन का। ऐसी दशा में 'सिद्धयोग' में हमें २० × ३०, १२ किलो के कागज के बजाय (जो बहुधा 'सिद्धयोग' में लगाया जाता रहा था) हमें २० × ३०-६-४ और १०,-३ किलो वजन तक का कागज लगाने को विवश होना पड़ा। साथ ही के कागज के समय पर न मिलने के कारण पत्रिका का प्रकाशन भी निर्धारित समय पर नहीं हो सका।

देश में आर्थिक उथल पुथल की जो दशा चल रही है। उसके देखते हुए यह कहना सम्भव नहीं है कि कब 'सिद्धयोग' का प्रकाशन पूर्ववत् सामान्य स्तर पर आ सकेगा। यह सब कुछ प्रभु-कृपा पर ही अवलम्बित है। और निश्चय ही उनकी कृपा कोर ही 'सिद्धयोग' का सम्बल्ल है क्योंकि 'सिद्धयोग' उनका है और वे 'सिद्धयोग' के।

श्री गुरुदेवजी का प्रयास—

सदा यही रहा है कि 'सिद्धयोग'—उत्तरोत्तर विकसित होता रहे। इस विशेषाङ्क को वे रंगीन भावपूर्ण चित्रों से विभूषित करना चाहते थे किन्तु देश के विभिन्न भागों में योग प्रचारार्थ पिछले कई महीनों तक आश्रमसे निरन्तर बाहर रहनेके कारण किसी चित्रकार से सम्पर्क स्थापित नहीं किया जा सका। दूसरे रंगीन चित्र छापने योग्य उपयुक्त आर्ट पेपर का मिलना भी दुर्लभ रहा। केवल आवरण पृष्ठ के लिए ही कुछ आर्ट पेपर हमें सुलभ हो सका। अतः रंगीन चित्र देने का विचार क्रियात्मक रूप नहीं ले सका। फिर किसी अंक में इसका समावेश करने का प्रयास किया जावेगा

बिजली का संकट और अभाव—

भी 'सिद्धयोग' के प्रकाशित होने में एक बड़ी बाधा के रूप में प्रायः सामने आता रहता है। प्रेस की मशीनें पावर-संकट के कारण संकट ग्रस्त रहती रही हैं फलतः 'सिद्धयोग' नियत तिथि से कुछ आगे-पीछे ही प्रकाशित होकर पाठकों के हाथों में पहुँचता रहा है। यह सब विवशतः आने वाली बाधायें है जो पिछले एक वर्ष से प्रायः प्रत्येक पत्र और उसकी प्रकाशन संस्था के सामने आई है 'सिद्धयोग' के इन सब अभावों के लिए ग्राहक और पाठक भाई बहनों से हम औदार्य दृष्टि अपनाने की ही अपील करते हैं।

इस विशेषाङ्क में—

जाने योग्य कई उपयोगी लेख जिन्हें विशेष रूप से सम्पादकीय विभाग की ओर से आग्रह पूर्वक विद्वान लेखकों से लिखवाकर मँगवाया गया था विवशतावश स्थान पाने से रह गये हैं। इन सबको हम 'सिद्धयोग' के अगले साधारण अंकों में प्रकाशित करते रहेंगे। हमें इस बात का खेद है कि इच्छा रहते हुए भी समयाभाव से हम इन लेखों का इस अंक में समावेश न कर सके।

सहयोग के लिए आभार—

हम श्री सिद्ध गुफा शाखामण्डलों के उन सभी भाई-बहनों को भी धन्यवाद अर्पित करना हम अपना कर्त्तव्य समझते है जिन्होंने 'सिद्धयोग' का प्रसार क्षेत्र बढ़ाकर अपना उल्लेखनीय सहयोग प्रदान किया है। निस्सन्देह इन सभी भाई-बहनों का प्रयास सराहनीय है। इस बार तो इन सबके ऐसे प्रयास की और भी अधिक आवश्यकता है। आशा है सभी गुरुभाई-बहन 'सिद्धयोग' के स्वयं ग्राहक बनकर तथा दो ग्राहक और बना डालने का संकल्प लेकर योग प्रचार के पावन प्रयासों में अपना अधिकाधिक सहयोग प्रदान करेंगे।

अन्त में एक बार पुनः हम योगयोगेश्वर करुणा वरुणालय श्री प्रभुजी एवं योगशक्ति सम्राट श्री गुरुदेवजी महाराज के कृपा-प्रसादों के प्रति जो सदैव ही 'सिद्धयोग' के संचालन में अप्रत्याशित रूप से मिलते रहे हैं अपना आभार प्रदर्शित करते हैं तथा भगवान आदि शिव से प्रार्थना करते हैं कि वे 'सिद्धयोग' को अपने लक्ष्य में सफलीभूत होने का आशीर्वाद प्रदान करें।

दिव्य—
संयुक्त सम्पादक

— आगामी अङ्क के कुछ लेख —

१. विशेष लेख :
　　— श्री गुरुदेवजी द्वारा लिखित
२. ब्रह्मचक्र रन्ध्र और सहस्र दल कमल :
　　—श्री जगदीश नारायण मेहरा एम० एस० सी०
३. महर्षि दयानन्द और योग :
　　— आचार्य यशोवर्धन
४. ध्यान योग
　　—श्री किशोरीलालजी शास्त्री
५. मेरे पिता और गुरुदेव भगवान की कृपा
　　—श्रीमती राजेश्वरी देवी (एटा)
६. जीवन तत्त्व साधन (विशेष लेखमाला) :
　　—श्री गिरीशदेव वर्मा, बहराइच

आदि-आदि।

श्री 'सिद्धगुफा' योग प्रशिक्षण-केन्द्र द्वारा प्रकाशित
उपयोगी साहित्य

पुस्तक	मूल्य
१. योगासन चित्रपट	१.२५
२. योग-योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलालजी की स्वहस्त लिखित जीवन कथाएँ	३.००
३. योगासन (सचित्र)	१.००
४. श्री ब्रह्मचारी गोपालानन्द जी	१.००
५. योगिराज स्वामी मुलखराज जी	१.००
६. आठ योगी	१.००
७. समाधिस्था योगनियाँ	१.००
८. सवांई के चमत्कारिक चरित्र	१.००
९. मन की एकाग्रता के साधन	१.००
१० भोग, रोग और योग	१.००
११. जीवन-तत्त्व-साधन	१.००
१२. यम-नियम	१.००
१३. योग क्या ? (अप्राप्य)	.५०
१४. योगेश्वर-चरित्रमाला [भजन]	१.००
१५. श्री महाप्रभुजी का गीत काव्य (कविता)	१.००
१६. श्री सद्गुरु-संकीर्तन भजन माला	१.००
१७. सुधा-संगीत	१.८०
१८. इन्दु शर्मा के आठ भजन	.२५
१९. श्री सद्गुरु-स्तवन (गीत काव्य)	.४०
२०. योगामृत भजनावली	.५०
21. Practices for developing the life force (Jiwan-Tattwa-Sadhan)	2.00

नोटः—उपर्युक्त पुस्तकें मँगाने पर उक्त मूल्य के अतिरिक्त डाक व्यय मंगाने वाले के जिम्मे और होगा।

इसके अतिरिक्त उक्त संस्थान से प्रकाशित योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक 'सिद्धयोग' मासिक के ग्राहक बनिये और लाभ उठाइए। मूल्य १२ रु० वार्षिक ·

मिलने का पता—

व्यवस्थापक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र

सवांई (आगरा)

पातञ्जल योगदर्शन

(श्री आचार्य विनोबा भावे)

वेद भगवान ने आज्ञा दी है :—

आनो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः

अर्थात्—दुनिया भर से मंगल विचार हमारे पास आवें। हम सब विचारों का स्वागत करते हैं और यह नहीं समझते कि वह विचार स्वदेशी है या परदेशी हम इतना ही सोचते हैं कि वह ठीक है या बेठीक। जो विचार ठीक है वह पुराना हो तो भी लिया जाय। इसमें कोई शक नहीं कि हमको कुछ लेना है लेकिन जो अपने पास है उसे भी पहचानना चाहिए। और यह इसलिए जरूरी है कि जो यहाँ का होता है वह यहाँ की परिस्थिति और चारित्र्य के लिए अनुकूल होता है।

""""शिक्षाशास्त्र के ऐसे जो अनेक ग्रन्थ संस्कृत भाषा में हैं उन सबमें शिरोमणि ग्रन्थ है पतंजलि का योगशास्त्र। मुझसे कोई पूछे कि शिक्षाशास्त्र पर सर्वोत्तम ग्रन्थ भारत में कौन-सा है तो मैं यही कहूँगा कि 'पातञ्जल योग शास्त्रम्'। उसमें शिक्षा के विषय में मानस और अति मानस दोनों दृष्टियों से विचार किया गया है। साइकोलोजिकल सोचना शिक्षा के लिए बहुत जरूरी होता है। उसके बिना शिक्षा शास्त्र शुरू नहीं होता है लेकिन शुरू के लिए यद्यपि मानस शास्त्र की जरूरत होती है तो भी उसकी आखिरी चीज क्या है कहाँ तक ले जाना है, यह समझाने के लिए अति मानस भूमिका का भी ज्ञान जरूरी होता है। पतंजलि ने योगशास्त्र में वृत्तियों का परीक्षण करके वृत्तियों के अनुकूल कैसे बरता जाय और वृत्तियों से परे कैसे हुआ जाय ये दोनों बातें बता दी हैं। वृत्तियों के अनुकूल अगर हम नहीं बरतते तो संसार में कोई कार्य नहीं कर सकते। इसलिए वृत्तियों के अनुकूल सोचना पड़ता है। वृत्तियों से परे होकर अगर नहीं सोचते तो तटस्थ दर्शन होता नहीं और इसलिए नजदीक के ही छोटे से विकल्प में हम गिरफ्तार रहते हैं तो दूर दृष्टि का अभाव हो जाता है इस वास्ते अति मानस दृष्टि की भी जरूरत रहती है और मानस दृष्टि की भी जरूरत होती है। दोनों दृष्टियाँ ध्यान में रखकर पतंजलि ने बहुत थोड़े में योगशास्त्र में बात रखी है। इस पर अनेक भाष्य हुए हैं और यह योगशास्त्र आज तक विकसित होता आया है। भारत में आज भी इसका विकास हो रहा है। मैं इसके विषय में अधिक नहीं कहूँगा—मुझे इतना ही कहना है कि अपने यहाँ शिक्षाशास्त्र बना हुआ है।

और वह है पतंजलि का योगशास्त्र

Sidhayoga Regd. No. L. Ag 0008

योग के सिद्धान्त और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

संस्थापक संपादक तथा संरक्षक:
योगिराज अनंत श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

वंदना

विद्यया तारिता स्मो यैर्जन्ममृत्युमहोदधिम् ।
सर्वज्ञेभ्यो नमस्तेभ्यो गुरुभ्योऽज्ञानसङ्कुलम् । ॥

जिन्होंने ज्ञान के द्वारा हमारा अज्ञानपूर्ण जन्ममृत्युरूप महासागर से उद्धार किया है उन सर्वज्ञ गुरुदेव को हमारा नमस्कार है।

येनात्मना विलीयन्ते उद्भवन्ति च वृत्तयः ।
नित्यावगतये तस्मै नमो धीप्रत्ययात्मने ॥

जिस आत्मास्वरूप से अन्तःकरण की वृत्तियाँ उठती और लीन होती हैं उन बुद्धिवृत्तियों के अधिष्ठान नित्यज्ञानस्वरूप आत्मा को नमस्कार है।

इतश्चात्मनो ज्ञानं निष्क्रियोऽन्यो न विद्यते ।
ज्ञानमिच्छुंस्तरेत्तस्मात् युक्तः शिष्यगुणैः सदा ॥

क्योंकि [संसार में] आत्मज्ञान प्रदान करने वाले भव से उत्तीर्ण होने का कोई अन्य उपाय नहीं है; इसलिये ज्ञान की इच्छा करने वाले पुरुष को सर्वदा शिष्य के गुणों से युक्त होकर संसार से पार हो जाना चाहिये।

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, मसई कटरा, ताजगंज, आगरा-१